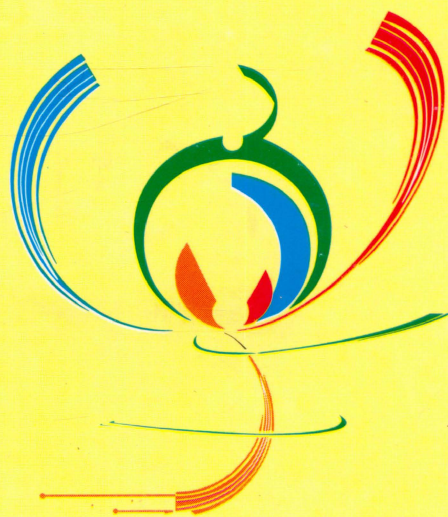


जैन तत्त्वमीमांसा और आचार मीमांसा



डॉ. समणी ऋजुप्रज्ञा

जैन तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा



डॉ. समणी ऋजुप्रज्ञा

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ- 341 306 (राजस्थान)

जैन तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा

डॉ. समणी ऋजुप्रज्ञा

व्याख्याता—जैन दर्शन और तुलनात्मक धर्म-दर्शन
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ-341 306 (राज.)

प्रकाशक

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ-341 306 (राजस्थान)

© जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ

प्रकाशक : जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ-341306 (राज.)
दूरभाष : 01581-222110, 222230
फैक्स : 01581-223472
e-mail : registrar@jvbi.ac.in

मूल्य : 120/- रुपये

नवीन संस्करण : जनवरी - 2010

लेजर टाइप सेटिंग : मोहन कम्प्यूटर्स, लाडनूँ

मुद्रक : श्री वर्द्धमान प्रेस, नवीन शाहदरा, दिल्ली

प्रस्तावना

दर्शन के अनेक पक्ष हैं—तत्त्व मीमांसा, ज्ञान मीमांसा, प्रमाण मीमांसा, आचार मीमांसा आदि। प्रस्तुत पुस्तक में जैन तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा का विवेचन है। तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तत्त्व मीमांसा के आधार पर ही आचार-मीमांसा का प्रासाद निर्मित होता है। तत्त्व के मूल स्वरूप की मीमांसा करना तत्त्व-मीमांसा का विषय है। जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियाँ काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहाँ जागतिक विवेचन की प्रमुखता है, वहाँ छः द्रव्यों की चर्चा है और जहाँ आत्मिक तत्त्व प्रमुख है, वहाँ नौ तत्त्वों का विवेचन उपलब्ध होता है।

जैन दर्शन में तत्त्व के लिए सत्, द्रव्य, अर्थ, पदार्थ आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। “तस्य भावः तत्त्वम्” के आधार पर वस्तु के द्रव्य एवं भाव स्वरूप को तत्त्व कहा गया है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं सत् के अनुसार तत्त्व का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। दूसरे शब्दों में द्रव्य-पर्याय रूप है। जैन दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। छः द्रव्य और नौ तत्त्व इन्हीं का विस्तार है।

जैन आचार मीमांसा का मुख्य उद्देश्य आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति। संसारी अवस्था में आत्मा का शुद्ध स्वरूप कर्मों से आवरणित रहता है। सम्यक् आचार के द्वारा आत्मा को कर्म-बंधन से मुक्त कर परमात्म-पद पर अवस्थित करना ही जैन आचार मीमांसा का ध्येय है। भगवान् महावीर ने आचार के मुख्य दो मार्ग बतलाये हैं—श्रमणाचार और श्रावकाचार।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच इकाइयों में विभक्त है। प्रथम दो इकाई तत्त्व-मीमांसा से संबंधित हैं तथा अंतिम तीन इकाई आचार-मीमांसा से संबंधित हैं।

प्रथम इकाई में सत् का स्वरूप, द्रव्य-गुण-पर्याय, षड्द्रव्य, परमाणु और लोकवाद का विवेचन है।

द्वितीय इकाई में आत्मा का स्वरूप, आत्मा के भेद-प्रभेद, आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि, आत्मा का परिमाण, आत्मा-शरीर संबंध तथा पुनर्जन्म का विवेचन है।

तृतीय इकाई में जैन आचार का आधार और स्वरूप, नौ तत्त्व, रत्नत्रय, गुणस्थान, षडावश्यक और दस धर्म का विवेचन है।

चतुर्थ इकाई में श्रमणाचार, श्रावकाचार, ग्यारह प्रतिमा, जैन जीवनशैली, इच्छा-परिमाण और संलेखना-संधारा का विवेचन है।

पंचम इकाई में अहिंसा का स्वरूप, अहिंसा प्रशिक्षण, अणुव्रत आन्दोलन, अणुव्रत : आचार संहिता, स्वस्थ समाज संरचना का आधार तथा अणुव्रत के कार्यक्षेत्र का विवेचन है।

मैं अत्यन्त आभारी हूँ विश्वविख्यात अपरिमेय ज्ञानपयोनिधि अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञजी के प्रति, जिन्होंने मुझे जैन विद्या का अध्ययन करवाया और इस क्षेत्र में कार्य करने हेतु अवसर और आशीर्वाद प्रदान किया। जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय की माननीया कुलपति महोदया डॉ. समणी मंगलप्रज्ञा का मार्गदर्शन एवं यथेष्ट सहयोग भी मुझे समय-समय पर मिलता रहा है। कम्प्यूटर टंकण का कार्य मोहन ने जिम्मेदारी के साथ कुशलतापूर्वक किया है। सभी के प्रति हृदय से आभार और कृतज्ञता।

आशा है 'जैन तत्त्व मीमांसा और आचार मीमांसा' का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी वर्ग के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। वे न केवल तत्त्व-मीमांसा और आचार-मीमांसा का ज्ञान कर सकेंगे अपितु अपने जीवन में ज्ञान और आचार का संतुलन साध सकेंगे। व्यक्तिगत जीवन में शांति, प्रेम, मैत्री, करुणा, अहिंसा, संयम आदि मूल्यों को आत्मसात् करते हुए स्वस्थ समाज की संरचना में अपना योगदान दे सकेंगे, ऐसा विश्वास है।

डॉ. समणी ऋजुप्रज्ञा

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

इकाई-1 तत्त्व-मीमांसा

1-36

- ❖ सत् का स्वरूप
- ❖ द्रव्य-गुण-पर्याय
- ❖ षड् द्रव्य
- ❖ परमाणु
- ❖ लोकवाद

इकाई-2 तत्त्व-मीमांसा

37-71

- ❖ आत्मा का स्वरूप
- ❖ आत्मा के भेद-प्रभेद
- ❖ आत्मा की सिद्धि
- ❖ आत्मा का परिमाण
- ❖ आत्मा-शरीर संबंध
- ❖ पुनर्जन्म

इकाई-3 आचार-मीमांसा

72-132

- ❖ आचार का आधार और स्वरूप
- ❖ नौ तत्त्व
- ❖ रत्नत्रय
- ❖ गुणस्थान
- ❖ षडावश्यक
- ❖ दस धर्म

इकाई-4 आचार-मीमांसा

133-188

- ❖ श्रमणाचार
- ❖ श्रावकाचार
- ❖ ग्यारह प्रतिमा
- ❖ जैन-जीवनशैली
- ❖ अपरिग्रह : इच्छा-परिमाण
- ❖ संलेखना-संधारा

इकाई-5 आचार-मीमांसा

189-229

- ❖ अहिंसा का स्वरूप
- ❖ पशु-पक्षियों के प्रति क्रूरता बनाम आत्मौपम्यता
- ❖ अहिंसा-प्रशिक्षण
- ❖ अणुव्रत आन्दोलन
- ❖ अणुव्रत : आचार-संहिता
- ❖ अणुव्रत : स्वस्थ समाज संरचना का आधार
- ❖ अणुव्रत का कार्यक्षेत्र

इकाई-1

तत्त्व-मीमांसा

दार्शनिक जगत् में तत्त्व-मीमांसा का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। द्रव्य या सत् तत्त्व मीमांसा का विशिष्ट अंग माना जाता है। जो भी अस्तित्ववान् है, वह द्रव्य या सत् कहलाता है। वह द्रव्य, गुण और पर्याय से युक्त होता है। जैन दर्शन में छः द्रव्य माने गए हैं। छः द्रव्यों में एकमात्र पुद्गल द्रव्य हमारी आंखों का विषय बनता है। पुद्गल का सूक्ष्मतम भाग परमाणु कहलाता है। परमाणु अविभाज्य होता है। जहाँ पर छः द्रव्य पाये जाते हैं, उसे लोक कहते हैं। प्रस्तुत इकाई में सत् का स्वरूप, द्रव्य-गुण-पर्याय, छः द्रव्य, परमाणु और लोकवाद का विवेचन किया गया है।

1. सत् का स्वरूप

जैन दर्शन में सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ, तत्त्वार्थ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में किया गया है अतः ये शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। 'सत्' शब्द का ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैन आगमों में सत् के लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! तत्त्व क्या है? भगवान ने कहा—गौतम! तत्त्व वह है, जो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुव (स्थिर) रहता है। इस संवाद से स्पष्ट है कि जैन आगमों में तत्त्व या द्रव्य की सत् संज्ञा नहीं थी। जब अन्य दर्शनों में 'सत्' इस संज्ञा का समावेश हुआ तब जैन दार्शनिकों के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि सत् किसे कहा जाए। सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने द्रव्य का सत् लक्षण करके इस समस्या का समाधान किया। इसके बाद उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने भी द्रव्य को सत् के रूप में व्याख्यायित किया।

भारतीय दर्शन में सत् का स्वरूप

‘सत्’ शब्द अस्तित्व का वाचक है। विश्व में जितने भी अस्तित्ववान् पदार्थ हैं, वे सब सत् हैं। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार के पदार्थों का समावेश सत् में हो जाता है। इस दृष्टि से सत्, वस्तु, तत्त्व, द्रव्य, पदार्थ एक ही अर्थ के बोधक शब्द हैं।

सत् के स्वरूप के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन में पांच मान्यताएँ हैं—

1. सत् का स्वरूप कूटस्थ नित्य है। उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता। वेदान्त दर्शन इस सिद्धान्त का समर्थक है।

2. सत् का स्वरूप अनित्य है। वह हर क्षण परिवर्तनशील है। बौद्ध दर्शन इस सिद्धान्त का समर्थक है।

3. चेतन सत् (पुरुष) कूटस्थ नित्य तथा अचेतन सत् (प्रकृति) परिणामी नित्य है। सांख्य दर्शन इस सिद्धान्त का पोषक है।

4. परमाणु, आत्मा आदि कुछ सत् कूटस्थ नित्य तथा घट-पट आदि कुछ सत् अनित्य हैं। इस मत के समर्थक न्याय-वैशेषिक हैं।

5. सत् पदार्थ न एकान्ततः नित्य और न एकान्ततः अनित्य हैं अपितु परिणामीनित्य अर्थात् नित्यानित्य हैं। यह मंतव्य जैन दर्शन का है।

जैन दर्शन में सत्

सर्वप्रथम आचार्य उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए लिखा—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। यत् सत् तत् द्रव्यम्। गुणपर्याययुत द्रव्यम्। सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। जो सत् है, वही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही सत् है। द्रव्य वह है, जो गुण-पर्याय से युक्त है। इस प्रकार सत् (द्रव्य) के सन्दर्भ में दो अवधारणाएँ सामने आई—

1. सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।

2. सत् गुण-पर्याय युक्त है।

सत् की इन दोनों अवधारणाओं में मात्र शब्द भेद है, तात्पर्यार्थ में कोई भेद नहीं है। उत्पाद-व्यय के स्थान पर गुण और पर्याय तथा ध्रौव्य के स्थान पर द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्पाद और व्यय परिवर्तन के अर्थात् अनित्यता के सूचक हैं और ध्रौव्य नित्यता का सूचक शब्द है। उसी प्रकार पर्याय अनित्यता का तथा द्रव्य नित्यता का सूचक है।

जैन दर्शन के अनुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य—ये तीनों बातें युगपत्—एक साथ जिसमें घटित होती हैं, वही सत् होता है। परिवर्तनशीलता और नित्यता—ये दोनों साथ रहकर ही सत् (पदार्थ) को पूर्णता देते हैं। केवल उत्पाद, केवल व्यय या केवल ध्रौव्य सत् का लक्षण नहीं बन सकता।

प्रश्न हो सकता है कि एक ही पदार्थ में एक साथ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की संगति कैसे हो सकती है? क्योंकि ये तीनों विरोधी प्रतीत होते हैं। जहाँ उत्पाद और व्यय है, वहाँ स्थायित्व कैसे हो सकता है और जहाँ स्थायित्व है, वहाँ उत्पाद तथा व्यय कैसे घटित हो सकता है?

इसका समाधान यही है कि ऊपर-ऊपर से देखने पर यहाँ विसंगति की प्रतीति होती है, पर सच्चाई यह है कि इनके बिना किसी पदार्थ की संगति हो ही नहीं सकती। उदाहरण के लिए सोने से कंगन, अंगूठी आदि अनेक आभूषण बनाए जाते हैं। सोने के कंगन को तोड़कर जब अंगूठी बनाई जाती है तब अंगूठी का उत्पाद और कंगन का व्यय हमें प्रत्यक्ष नजर आता है और उसी समय सोना, जो कि ध्रौव्य है, वह भी नजर आता है, क्योंकि कंगन, अंगूठी आदि अनेक पर्यायों से गुजरता हुआ भी सोना द्रव्य सदा स्थिर रहता है,

उसका कभी विनाश नहीं होता। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—तीनों साथ-साथ रहते हैं। दूसरी शब्दों में द्रव्य और पर्याय—दोनों साथ-साथ रहते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने इस त्रिपदी की प्ररूपणा की—‘उप्यण्णेइ वा, विगमेइ वा, ध्रुवेइ वा’। सत् (पदार्थ) उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और ध्रुव भी रहता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के साथ सत् का अविनाभावी संबंध है।

इस प्रकार अन्य दर्शनों में उपलब्ध सत् की अवधारणा का आधार जहाँ एकान्तवाद है, वहीं जैन दर्शन में सत् के स्वरूप का निर्धारण अनेकान्तवाद के आधार पर किया गया है। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं। एक अंश तो तीनों कालों में शाश्वत रहता है और दूसरा अंश सदा बदलता रहता है। इन दो अंशों में से किसी एक को स्वीकार करने से वस्तु केवल नित्य या केवल अनित्य प्रतीत होती है। परन्तु दोनों अंशों को स्वीकार करने से वस्तु का पूर्ण या यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है। इसलिए प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है।

सत् (द्रव्य) के प्रकार

द्रव्य या तत्त्व कितने हैं? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न ग्रंथों में विविध रूपों में दिया गया है। जहाँ तक द्रव्य सामान्य का प्रश्न है, सब एक हैं। वहाँ किसी प्रकार की भेद-कल्पना उत्पन्न ही नहीं होती। जो सत् है, वही द्रव्य है और वही तत्त्व है।

यदि हम द्वैत दृष्टि से देखें तो द्रव्य को दो रूपों में देख सकते हैं। ये दो रूप हैं—जीव और अजीव। चैतन्य लक्षण वाले जितने भी द्रव्य विशेष हैं, वे सब जीव विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं। जिनमें चैतन्य नहीं है, वे सभी द्रव्य विशेष अजीव विभाग के अन्तर्गत आ जाते हैं।

जीव और अजीव के अन्य भेद करने पर द्रव्य के छः भेद भी हो जाते हैं। वे हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। इनमें जीवास्तिकाय जीव विभाग में तथा शेष पांच अजीव विभाग के अन्तर्गत आते हैं। इन छः द्रव्यों की व्याख्या जागतिक सन्दर्भ में की जाती है। आत्मिक विकास की दृष्टि से भी जीव और अजीव—इन दो द्रव्यों को विस्तृत कर नौ द्रव्य या तत्त्व स्वीकार किये गए हैं। वे हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। छः द्रव्यों और नौ तत्त्वों का विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा।

2. द्रव्य-गुण-पर्याय

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिकों ने 'द्रव्य' को अपने चिंतन के केन्द्र में रखा है। 'द्रव्य चिंतन' तत्त्व मीमांसा का प्रमुख विषय है। जैन दर्शन में सत् की अवधारणा आगमकालीन है। जैन आगमों में सत् के लिए द्रव्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

1. द्रव्य-व्युत्पत्ति एवं परिभाषा

द्रव्य शब्द द्रु धातु से कर्मार्थक य प्रत्यय से निष्पन्न है। इसका अर्थ है—प्राप्ति योग्य। द्रव्य का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि—'अद्रुवत्द्रवतिद्रोष्यतितांस्तानपर्यायानिति द्रव्यम्' अर्थात् द्रव्य वह है, जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा। जैन साहित्य में द्रव्य की परिभाषा अनेक दृष्टिकोणों से की गई है।

❖ गुणसमुदायरूप द्रव्य

विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में द्रव्य की प्रथम परिभाषा उत्तराध्ययनसूत्र में मिलती है। गुणाणामासवो द्रव्वं वहां गुणों के आश्रय को द्रव्य कहा गया है। बाद में कुछ जैनाचार्यों ने इसी परिभाषा का अनुसरण करते हुए गुणसमुदाय को द्रव्य माना है।

❖ गुणपर्याय से युक्त द्रव्य

उत्तराध्ययन की परिभाषा में द्रव्य को केवल गुणों का आश्रय माना गया है किन्तु बाद में द्रव्य की परिभाषा में गुण के साथ पर्याय को भी जोड़ा गया। आचार्य उमास्वाति ने द्रव्य की परिभाषा में गुण के साथ पर्याय को जोड़ते हुए तत्त्वार्थसूत्र में लिखा—‘गुणपर्यायवद् द्रव्यम्’ अर्थात् गुण और पर्याय से जो युक्त है, वह द्रव्य है। जैन सिद्धान्त दीपिका में भी गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम् कहकर गुण और पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहा गया।

❖ द्रव्य का लक्षण सत्

तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य को परिभाषित करते हुए कहा गया—
‘सत्द्रव्यलक्षणम्’ द्रव्य का लक्षण सत् है और सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने द्रव्य को परिभाषित करते हुए लिखा—

द्वं सल्लखणीयं उप्पाद व्यय ध्रुवत्त संजुत्तं।

गुण पञ्जयासयं वा जं तं भण्णति सवण्णहू॥

इस श्लोक में द्रव्य के तीन लक्षण हैं—

1. द्रव्य का लक्षण सत् है।
2. द्रव्य का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।
3. द्रव्य का लक्षण गुण-पर्याययुक्त है।

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य से रहित पर्याय और पर्याय से रहित द्रव्य का अस्तित्व खरविषाण या बन्ध्यापुत्र की भाँति होता ही नहीं है।

2. गुण की परिभाषा

द्रव्य की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि द्रव्य में गुण और पर्याय दोनों होते हैं। गुण और पर्याय के बिना द्रव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। गुण को परिभाषित करते हुए लिखा गया—सहभावी

धर्मों गुणः। द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं। सहभावी धर्म द्रव्य से कभी अलग नहीं होता। आचार्य उमास्वाति ने गुण को परिभाषित करते हुए लिखा—द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः अर्थात् गुण द्रव्य के आश्रित होते हैं पर गुण स्वयं निर्गुण होते हैं। गुण में गुणों का सद्भाव नहीं होता। उदाहरण के लिए जल द्रव्य है और शीतलता उसका गुण है। पर यदि कोई पूछे शीतलता का गुण क्या है तो यही कहना होगा कि शीतलता स्वयं गुण है और गुण का गुण नहीं होता अतः गुण स्वयं निर्गुण है।

गुण के प्रकार

गुण के दो प्रकार हैं—

1. सामान्य गुण
2. विशेष गुण

1. सामान्य गुण

सभी द्रव्यों में समान रूप से पाया जाने वाला गुण सामान्य गुण है। जैसे—संसार के जितने भी मनुष्य हैं, उनमें पाया जाने वाला मनुष्यता सामान्य गुण है। सामान्य गुण के छह प्रकार बताये गये हैं—

1. अस्तित्व,
2. वस्तुत्व,
3. द्रव्यत्व,
4. प्रमेयत्व,
5. प्रदेशवत्व,
6. अगुरुलघुत्व,

1. **अस्तित्व**—अस्तित्व गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश नहीं होता। तीनों कालों में उसका अस्तित्व बना रहता है। इस

अस्तित्व गुण के कारण ही द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्व सदैव बना रहता है। पदार्थ हमें उत्पन्न और नष्ट होता हुआ दिखाई देता है, पर उसका अस्तित्व नष्ट नहीं होता।

2. वस्तुत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य कोई-न-कोई अर्थक्रिया अवश्य करता है, उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव में वस्तु-अवस्तु बन जाती है। इस वस्तुत्व गुण के कारण द्रव्य प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ अर्थक्रिया करता रहता है।

3. द्रव्यत्व—जिस गुण के कारण द्रव्य सदा एक सरीखा न रहकर नई-नई पर्यायों को धारण करता रहता है, वह द्रव्यत्व गुण कहलाता है। द्रव्य में होने वाले परिणमन का मूल आधार द्रव्यत्व है। यदि द्रव्यत्व नहीं हो तो द्रव्य उसी प्रकार द्रव्य नहीं हो सकता, जिस प्रकार मनुष्यत्व के बिना मनुष्य नहीं होता।

4. प्रमेयत्व—द्रव्य की पहचान का माध्यम गुण बनता है अतः जिस गुण के द्वारा द्रव्य का बोध होता है, वह गुण प्रमेयत्व कहलाता है। हमारा ज्ञान सीमित है अतः हम सभी द्रव्यों को नहीं जानते पर हमारे ज्ञान में वह शक्ति है कि हम सभी द्रव्यों को जान सकते हैं। द्रव्यों को जानने में प्रमेयत्व गुण कारण बनता है।

5. प्रदेशवत्व—जैन दर्शन में द्रव्य को सप्रदेशी माना गया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और एक जीव के प्रदेश असंख्य होते हैं। आकाश के प्रदेश अनन्त होते हैं। पुद्गल स्कन्ध के प्रदेश दो से लेकर संख्येय, असंख्येय और अनन्त तक हो सकते हैं। परमाणु अप्रदेशी होता है। इस प्रकार द्रव्यों के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेशों के परिमाण (माप) का आधार प्रदेशवत्व गुण बनता है।

6. अगुरुलघुत्व—यह गुण सूक्ष्म है और वाणी का विषय नहीं बनता। अगुरुलघुत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है। अपने अस्तित्व को छोड़कर दूसरे के अस्तित्व

को स्वीकार नहीं करता। जैसे—अनन्त काल से पुद्गल और आत्मा का संबंध चला आ रहा है पर पुद्गल कभी आत्मा नहीं बनते और आत्मा कभी पुद्गल नहीं बनती। द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक ऐसा गुण है, जो उन्हें अपनी सीमा को छोड़कर दूसरे द्रव्य की सीमा में जाने नहीं देता।

विश्व के समस्त पदार्थों में उपर्युक्त ये छहों गुण समान रूप से पाए जाते हैं। सबमें समान रूप से पाए जाने के कारण ही इन्हें सामान्य गुण कहा जाता है।

2. विशेष गुण

जो गुण समस्त द्रव्यों में समान रूप से उपलब्ध नहीं होते, वे विशेष गुण कहलाते हैं। विशेष गुण हर पदार्थ का अपना-अपना होता है। उसका किसी दूसरे पदार्थ में संक्रमण नहीं होता। जैसे—गति में सहायता करना धर्मास्तिकाय का विशेष गुण है। यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य में नहीं पाया जाता। विशेष गुण सोलह प्रकार के हैं—

- | | |
|------------------|----------------|
| 1. गतिहेतुत्व | 9. ज्ञान |
| 2. स्थितिहेतुत्व | 10. दर्शन |
| 3. अवगाहहेतुत्व | 11. सुख |
| 4. वर्तनाहेतुत्व | 12. वीर्य |
| 5. स्पर्श | 13. चेतनत्व |
| 6. रस | 14. अचेतनत्व |
| 7. गन्ध | 15. मूर्तत्व |
| 8. वर्ण | 16. अमूर्तत्व। |

1. गतिहेतुत्व—गति में सहायता करना धर्मास्तिकाय का विशेष गुण है। धर्मास्तिकाय के अभाव में कोई भी पदार्थ गति नहीं कर सकता।

2. **स्थितिहेतुत्व**—स्थिर रहने में सहायता करना अधर्मास्तिकाय का विशेष गुण है। अधर्मास्तिकाय के अभाव में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं रह सकता।

3. **अवगाहहेतुत्व**—सभी द्रव्यों को आश्रय देना आकाश का विशेष गुण है। आकाश के अतिरिक्त किसी में भी यह गुण नहीं पाया जाता।

4. **वर्तनाहेतुत्व**—वर्तनाहेतुत्व काल का विशेष गुण है। हमारी जितनी भी वृत्तियाँ हैं, उनमें काल हेतुभूत है। यदि काल नहीं हो तो कोई भी क्रिया नहीं हो सकती अतः वर्तन काल का विशेष गुण है।

5-8. **स्पर्श, रस, गंध, वर्ण**—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण हैं।

9-12. **ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य**—ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य जीव द्रव्य के विशेष गुण हैं।

13. **चेतनत्व**—चेतनत्व जीव का विशेष गुण है। इस गुण के कारण जीव चेतनायुक्त होता है।

14. **अचेतनत्व**—अचेतनत्व जीव को छोड़कर चार अस्तिकाय और काल का विशेष गुण है।

15. **मूर्तत्व**—मूर्तत्व पुद्गल का विशेष गुण है। इस गुण के कारण ही पुद्गल हमारी इन्द्रियों के विषय बनते हैं।

16. **अमूर्तत्व**—अमूर्तत्व पुद्गल को छोड़कर चार अस्तिकाय तथा काल का विशेष गुण है। इस गुण के कारण ही पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्य इन्द्रियों के विषय नहीं बनते हैं।

उपर्युक्त सोलह गुणों में जीव और पुद्गल में छह-छह गुण पाए जाते हैं। शेष द्रव्यों में तीन-तीन गुण पाये जाते हैं। इनका उल्लेख इस प्रकार है—

द्रव्य

विशेष गुण

- | | |
|-------------------|--|
| 1. धर्मास्तिकाय | गतिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व |
| 2. अधर्मास्तिकाय | स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व |
| 3. आकाशास्तिकाय | अवगाहहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व |
| 4. काल | वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, अमूर्तत्व |
| 5. पुद्गलास्तिकाय | स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अचेतनत्व, मूर्तत्व |
| 6. जीवास्तिकाय | ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व |

3. पर्याय की परिभाषा

गुण की तरह पर्याय भी द्रव्य का धर्म है। द्रव्य का सहभावी धर्म गुण कहलाता है और क्रमभावी धर्म पर्याय कहलाता है। गुण द्रव्य के साथ निरन्तर रहता है और पर्याय हमेशा बदलती रहती है। द्रव्य और गुण की परिवर्तनशील अवस्थाओं का नाम पर्याय है। दूसरे शब्दों में द्रव्य और गुण की पूर्व-पूर्व अवस्था का नाश और उत्तर-उत्तर (नई-नई) अवस्था के उत्पाद को पर्याय कहते हैं। जैसे जीव द्रव्य का नारक, देव, मनुष्य, तिर्यच आदि रूपों में परिवर्तित होना जीव की पर्याय है। इन अवस्थाओं में भी वह न जाने कितने-कितने रूपों में बदलता रहता है। इसी प्रकार जीव के ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुणों में परिवर्तन होता रहता है। पुद्गलों के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण में परिवर्तन होता रहता है। ये सब गुण की पर्याय हैं।

पर्याय के प्रकार

द्रव्य की पूर्व और उत्तर अवस्थाएँ अनन्त हैं अतः पर्याय के भी अनन्त प्रकार हो सकते हैं। किन्तु संक्षेप में उन्हें दो भागों में विभक्त किया जाता है—

1. व्यंजन पर्याय

2. अर्थ पर्याय

1. व्यंजन पर्याय

व्यंजन पर्याय स्थूल पर्याय है। इसे शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है तथा यह सर्वसाधारण के ज्ञान का विषय बन सकता है। जैसे—बच्चे का युवा हो जाना, काले बालों का सफेद हो जाना आदि व्यंजन पर्याय के उदाहरण हैं। ये ऐसी पर्यायें हैं, जो बुद्धिगम्य, त्रिकालस्पर्शी और शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं।

2. अर्थ पर्याय

अर्थ पर्याय सूक्ष्म पर्याय है। इन चर्म चक्षुओं द्वारा उसे देखा नहीं जा सकता। प्रतिक्षण परिवर्तन होने के बाद भी उसके आकार में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता। जो केवल वर्तमानवर्ती है। शब्दों के द्वारा जिसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, वह अर्थ पर्याय है।

एक दूसरी दृष्टि से भी पर्याय के दो भेद किये गए हैं—

1. स्वभाव पर्याय

2. विभाव पर्याय

1. स्वभाव पर्याय

जिस परिवर्तन में किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। दूसरी वस्तु के निमित्त के बिना जो सहज परिवर्तन होता रहता है, उसे स्वभाव पर्याय कहा जाता है। जिस प्रकार समुद्र में हवा आदि बाह्य निमित्तों के न होने पर भी ज्वार उठता है, ज्वार का उठना पानी की स्वभाव पर्याय है। संसार में घट, पट आदि जितने भी पदार्थ हैं, उनमें प्रतिक्षण बिना किसी निमित्त के जो सूक्ष्म परिवर्तन होता रहता है, वह स्वभाव पर्याय है।

2. विभाव पर्याय

जिस परिवर्तन में किसी दूसरे पदार्थ की अपेक्षा रहती है। दूसरों के निमित्त से होने वाला परिवर्तन विभाव पर्याय है, जैसे—दूध में दही का जामन देने पर वह दूध-दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जामन द्वारा दही के रूप में परिवर्तित होना विभाव पर्याय है।

पर्याय द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहता है। इस दृष्टि से द्रव्य और गुण में स्थूल या सूक्ष्म जितना भी बदलाव आता है, वह सब पर्याय है।

द्रव्य-गुण-पर्याय का भेदाभेद

जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य-गुण-पर्याय में न एकान्ततः भेद है और न ही एकान्ततः अभेद है अपितु भेदाभेद है। भेदाभेद अर्थात् किसी अपेक्षा से भेद है और किसी अपेक्षा से अभेद भी है।

मुक्ताभ्यः श्वेततादिभ्यो मुक्तादाम यथा पृथक्।

गुणपर्याययोर्व्यक्तेर्द्रव्यशक्तिस्तथाश्रिता।।

द्रव्यानुयोग तर्कणा की उपर्युक्त गाथा में द्रव्य-गुण-पर्याय—इन तीनों के भेदाभेद का प्रतिपादन स्पष्ट रूप से हो जाता है। जैसे एक मुक्ताहार का विश्लेषण हार, धागा और मोती—इन तीन रूपों में किया जाता है, वैसे ही एक द्रव्य का विश्लेषण द्रव्य, गुण और पर्याय के रूप में किया जाता है। जैसे स्वर्ण से उसका गुण पीलापन और कुण्डल आदि पर्याय उससे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्रव्य से भिन्न गुण और पर्याय नहीं हैं। इसीलिए जो गुण और पर्याययुक्त है, वह द्रव्य है, ऐसा द्रव्य का लक्षण किया जाता है।

द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर अभेद

द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर आधार-आधेय भाव संबंध है। द्रव्य

आधार है और गुण-पर्याय आधेय हैं। द्रव्य के बिना गुण-पर्याय का आश्रय नहीं होगा और गुण-पर्याय के बिना द्रव्य को जाना नहीं जा सकेगा। अतः तीनों परस्पर अभिन्न हैं। इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता।

द्रव्य-गुण-पर्याय में परस्पर भेद

द्रव्य-गुण-पर्याय—तीनों परस्पर अभिन्न होते हुए भी कथंचित् भिन्न हैं।

संज्ञा संख्या विशेषाच्च स्वलक्षण विशेषतः।

प्रयोजनादि भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा।।

संज्ञा, संख्या और लक्षण की दृष्टि से तीनों में परस्पर भेद है।

1. संज्ञाकृत भिन्नता

तीनों की संज्ञा अर्थात् नाम अलग-अलग हैं। एक का नाम द्रव्य, दूसरे का नाम गुण और तीसरे का नाम पर्याय है। नाम की दृष्टि से तीनों में परस्पर भिन्नता है। यदि अभिन्नता होती तो एक ही नाम से काम चल जाता, पर नामों की भिन्नता से यह स्पष्ट है कि उनमें भेद है।

2. संख्याकृत भिन्नता

संख्या अर्थात् गणना। संख्या की दृष्टि से तीनों में परस्पर भिन्नता है। द्रव्य छः हैं, सामान्य गुण छः और विशेष गुण सोलह हैं तथा पर्याय अनन्त हैं। अतः संख्या के आधार पर तीनों परस्पर भिन्न हैं।

3. लक्षणकृत भिन्नता

तीनों के लक्षण अलग-अलग हैं।

द्रव्य—गुण और पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।

गुण—द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहते हैं।

पर्याय—द्रव्य के क्रमभावी धर्म को पर्याय कहते हैं।

इस प्रकार संज्ञा, संख्या और लक्षण के आधार पर तीनों में परस्पर भिन्नता है। द्रव्य-गुण-पर्याय को वस्तुजगत् में अलग-अलग नहीं किया जा सकता अतः अभिन्नता है तथा तीनों को बुद्धि के स्तर पर अलग-अलग समझा जा सकता है अतः इनमें भिन्नता भी है। इस प्रकार जैन दर्शन में द्रव्य-गुण-पर्याय इन तीनों में परस्पर भेदाभेद को स्वीकार किया गया है।

3. षड् द्रव्य

दर्शन जगत् में तत्त्वमीमांसा का अपना विशेष स्थान है। जैन तत्त्व मीमांसा में द्रव्य के स्वरूप का विशद विवेचन हुआ है। जैन दर्शन में मुख्य दो द्रव्य माने गये हैं—जीव और अजीव। विश्व-व्यवस्था के सन्दर्भ में जैन दर्शन में पंचास्तिकाय और षड् द्रव्य की चर्चा उपलब्ध होती है, जो कि इन दो द्रव्यों का ही विस्तार है। छः द्रव्य निम्नलिखित हैं—

- | | |
|--------------------|-------------------|
| 1. धर्मास्तिकाय, | 2. अधर्मास्तिकाय, |
| 3. आकाशास्तिकाय, | 4. काल, |
| 5. पुद्गलास्तिकाय, | 6. जीवास्तिकाय। |

इन छः द्रव्यों में काल को छोड़कर पांच अस्तिकाय हैं। काल अस्तिकाय नहीं है। षड्द्रव्यों के विवेचन से पूर्व अस्तिकाय को समझना आवश्यक है। अस्तिकाय में दो शब्द हैं—अस्ति और काय। अस्ति शब्द का अर्थ है—प्रदेश और काय शब्द का अर्थ है—समूह। प्रदेश समूह को अस्तिकाय कहते हैं। प्रदेश से तात्पर्य वस्तु के एक अंश से है। जिस प्रकार एक वस्त्र अनेक तंतुओं से बनता है, उनमें प्रत्येक तंतु को एक प्रदेश माना जा सकता है। तंतुओं का समूह वस्त्र

है। उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य के अनेक प्रदेश होते हैं, उन प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहा जाता है। काल के अस्तिकाय नहीं होता क्योंकि काल वर्तमानवर्ती है। अतीत बीत चुका है, भविष्य अभी आया नहीं है, वर्तमान क्षणवर्ती है, उसके प्रदेश-प्रचय नहीं होता। अतः काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है।

1. धर्मास्तिकाय

पांच अस्तिकाय द्रव्यों में सबसे पहला द्रव्य है—धर्मास्तिकाय। धर्मास्तिकाय को परिभाषित करते हुए कहा गया—‘गतिसहायो धर्मः’ जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायता करने वाला द्रव्य धर्मास्तिकाय है, जैसे—मछली की गति में जल। जिस प्रकार मछली में तैरने की शक्ति स्वयं में निहित होती है, पर जल के अभाव में वह तैर नहीं सकती अतः जल उसकी गति में अनन्य सहायक है। यद्यपि जल मछली को तैरने के लिए प्रेरित नहीं करता पर जब वह तैरती है तो उसके तैरने में सहायता करता है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल में गति करने की शक्ति स्वयं में निहित है, फिर भी वे धर्मास्तिकाय के सहयोग के बिना गति नहीं कर सकते। इसलिए यह गति में अनन्य सहयोगी है। जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहीं तक जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं। अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव होने से जीव और पुद्गल वहाँ गति नहीं कर सकते।

भगवती सूत्र में एक प्रसंग आता है—गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—“भगवन्! गति-सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?”

भगवान् ने कहा—“गौतम! गति सहायक तत्त्व धर्मास्तिकाय नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें कैसे फैलती? आँख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन

हिलता-डुलता? यह विश्व अचल ही होता। जो चल है, उन सबका आलम्बन गति-सहायक तत्त्व धर्मास्तिकाय ही है।”

धर्मास्तिकाय का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा धर्मास्तिकाय का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है। द्रव्य से तात्पर्य उसका स्वरूप क्या है? क्षेत्र से तात्पर्य वह किस स्थान में प्राप्य है? काल से तात्पर्य वह कब उत्पन्न हुआ? अब है या नहीं और कब तक रहेगा? भाव से तात्पर्य वह किस अवस्था में है? गुण से तात्पर्य वह जगत् का उपकारी है या नहीं, यदि है तो क्या उपकार करता है?

द्रव्य की दृष्टि से—यह एक अखण्ड द्रव्य है। इसे विभाजित नहीं किया जा सकता।

क्षेत्र की दृष्टि से—यह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।

काल की दृष्टि से—यह अनादि-अनन्त है। इसकी न कोई आदि है और न अन्त। यह सदा था, है और रहेगा।

भाव (स्वरूप) की दृष्टि से—यह अमूर्त, अभौतिक, चैतन्यरहित तथा अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—गति में अपेक्षित सहायता करना है।

2. अधर्मास्तिकाय

अधर्मास्तिकाय दूसरा द्रव्य है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया—‘स्थितिसहायोऽधर्मः’ जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहायता करने वाला द्रव्य अधर्मास्तिकाय है, जैसे—पथिकों के ठहरने में वृक्ष की छाया। एक चलते हुए पथिक के विश्राम में जिस प्रकार एक वृक्ष सहायक होता है, उसी प्रकार गति करते हुए जीव और पुद्गल की स्थिति में अधर्मास्तिकाय सहायक होता है। यद्यपि जीव और पुद्गल में गति की भांति स्थिर

रहने की क्षमता भी स्वयं में ही विद्यमान है। फिर भी अधर्मास्तिकाय के अभाव में वे स्थिर नहीं हो सकते। वृक्ष पथिकों को अपनी छाया में ठहरने के लिए प्रेरित नहीं करता किन्तु कोई पथिक यदि ठहरता है तो उसमें अपेक्षित सहायता करता है। धर्मास्तिकाय की भांति अधर्मास्तिकाय भी पूरे लोक में व्याप्त है। अलोक में उसका अभाव होने के कारण जीव और पुद्गल की स्थिति अलोक में नहीं होती।

भगवती सूत्र में गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—“भगवन्! स्थिति-सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?”

भगवान ने कहा—“गौतम! स्थिति का सहारा नहीं होता तो कौन खड़ा रहता? कौन बैठता? सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्दन बनता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है, उन सबका आलम्बन स्थिति-सहायक तत्त्व अधर्मास्तिकाय ही है।”

अधर्मास्तिकाय का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से अधर्मास्तिकाय का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—यह एक अखण्ड द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से—यह सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है।

काल की दृष्टि से—यह अनादि-अनन्त है।

भाव की दृष्टि से—यह अमूर्त, अभौतिक, चैतन्यरहित तथा अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—पदार्थों के स्थिर रहने में अपेक्षित सहायता करता है।

3. आकाशास्तिकाय

यह तीसरा द्रव्य है। इसे परिभाषित करते हुए लिखा गया—
 ‘अवगाहलक्षणः आकाशः’ समस्त द्रव्यों को अवकाश (आश्रय) देने वाला तत्त्व आकाश है। लोक-व्यवहार में प्रायः नीले रंग का जो आकाश दिखाई देता है, उसे आकाश कहा जाता है। वास्तव में वह आकाश नहीं है, क्योंकि आकाश केवल ऊपर ही नहीं है, अपितु सर्वत्र है। यदि आकाश सर्वत्र न हो तो व्यक्तियों और वस्तुओं को आश्रय कौन देगा? ऊपर-जो नीला आकाश दिखाई देता है, वह पौद्गलिक है। आकाशास्तिकाय कोई ठोस द्रव्य नहीं, अपितु खाली स्थान है। उसके दो विभाग किये गए हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। जैसे जल का आश्रय-स्थान जलाशय कहलाता है, वैसे ही समस्त द्रव्यों का आश्रय-स्थान लोकाकाश कहलाता है। जहाँ समस्त द्रव्य नहीं, केवल आकाश है, वह स्थान अलोकाकाश कहलाता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय की भाँति आकाश भी एक अखण्ड द्रव्य है। लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच कोई सीमा रेखा या भेद रेखा नहीं है। यह विभाजन धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य के आधार पर किया गया है। आकाश के आधार पर नहीं। आकाश के जिस खण्ड तक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य हैं, उतना खण्ड लोकाकाश है और जिस खण्ड में उनका अभाव है, वह अलोकाकाश है।

भगवतीसूत्र में गणधर गौतम ने जिज्ञासा की—भगवन्! आकाश तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है? भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! यदि आकाश नहीं होता तो ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ पर बनता? यह विश्व निराधार हो जाता।

आकाशास्तिकाय का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण के आधार पर आकाश के स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—यह एक अखण्ड द्रव्य है।

क्षेत्र की दृष्टि से—यह अनन्त और असीम है। लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है।

काल की दृष्टि से—यह अनादि, अनन्त और शाश्वत है।

भाव की दृष्टि से—यह अमूर्त, अभौतिक, चैतन्यरहित एवं अगतिशील है।

गुण की दृष्टि से—यह सभी द्रव्यों को आश्रय-स्थान देता है।

4. काल

उत्तराध्ययन सूत्र में काल का लक्षण वर्तना किया गया है। सामान्यतः व्यवहार में प्रयोग आने वाला 'समय' शब्द ही काल का सूचक है किन्तु जैन दर्शन में समय को भिन्न अर्थ में लिया गया है। समय काल का सबसे छोटा हिस्सा है। समय काल का अविभाज्य अंश है। जैन साहित्य में समय का माप इस प्रकार बताया गया है—एक परमाणु को एक आकाश-प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश तक जाने में जितना समय लगता है, वह एक समय है। जैन आचार्यों ने इसे इस रूप में भी समझाया है कि आँख की पलक झपकने और खुलने में जितना काल लगता है, उसमें असंख्यात समय बीत जाते हैं अतः समय बहुत सूक्ष्म है।

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है, क्योंकि इसके प्रदेश-प्रचय नहीं होते। काल अप्रदेशी है। काल का केवल वर्तमान समय ही अस्तित्व में होता है। भूत समय तो व्यतीत हो चुका है और भविष्य समय अभी उत्पन्न नहीं हुआ है। वर्तमान समय 'एक' होता है। अतः प्रदेश प्रचय न होने के कारण यह अस्तिकाय नहीं है।

काल के दो प्रकार माने गए हैं—व्यावहारिक काल और नैश्चयिक काल। समय, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग.... आदि व्यावहारिक काल हैं। यह काल केवल मनुष्य क्षेत्र में ही होता है तथा सूर्य-चन्द्र की गति के आधार पर इस काल का निर्धारण होता है। काल का सबसे सूक्ष्म भाग समय तथा सबसे उत्कृष्ट भाग पुद्गलपरावर्तन कहलाता है।

काल के सन्दर्भ में जैन-साहित्य में दो मत हैं। एक मत के अनुसार काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। वह जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय प्रवाह है। द्वितीय मत के अनुसार अन्य द्रव्यों की तरह काल भी एक स्वतंत्र द्रव्य है। प्रथम अभिमत के अनुसार समय, मुहूर्त, दिन, रात आदि जो भी काल के विभाजन हैं, वे सभी पर्याय विशेष के संकेत हैं। द्वितीय अभिमत के अनुसार जिस प्रकार जीव और पुद्गल की गति-स्थिति में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय निमित्त कारण हैं, उसी प्रकार जीव और अजीव के पर्याय परिणमन में काल निमित्त कारण है। अतः यह स्वतंत्र द्रव्य है।

उपर्युक्त दोनों कथन विरोधी नहीं अपितु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। 'उपकारकं द्रव्यम्' के अनुसार जो उपकारी है, वह द्रव्य है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व—ये काल के उपकार हैं अतः काल को भी द्रव्य के रूप में माना गया है।

काल का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की दृष्टि से काल के स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—यह अनन्त है।

क्षेत्र की दृष्टि से—यह ढाई द्वीप परिमाण है।

काल की दृष्टि से—यह अनादि-अनन्त है।

भाव की दृष्टि से—यह अमूर्त है।

गुण की दृष्टि से—वर्तना गुण है।

5. पुद्गलास्तिकाय

विज्ञान में जिसे मैटर (matter) कहा गया है, जैन दर्शन में उसे पुद्गल की संज्ञा दी गई है। पुद्गल को परिभाषित करते हुए लिखा गया है—‘पूरणगलनधर्मत्वात् इति पुद्गलः’। पुद्गल शब्द में दो पद हैं—पुद् और गल। पुद् का अर्थ है—मिलना और गल का अर्थ है—गलना, टूटना। जो द्रव्य प्रतिपल-प्रतिक्षण मिलता-गलता रहे, बनता-बिगड़ता रहे, टूटता-जुड़ता रहे, वही पुद्गल है। पुद्गल की दूसरी परिभाषा है—‘स्पर्शरसगन्धवर्णवान् पुद्गलः’ अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से युक्त द्रव्य पुद्गल है। इस प्रकार पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है, जो खण्डित भी होता है और पुनः परस्पर सम्बद्ध भी होता है। पुद्गल की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसे छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूँघा जा सकता है और देखा जा सकता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्णयुक्त होने के कारण एकमात्र पुद्गल द्रव्य रूपी है, मूर्त है। संसार में जितनी भी वस्तुएँ दिखलाई देती हैं, वे सब पुद्गल हैं।

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है—1. स्कन्ध, 2. देश, 3. प्रदेश, 4. परमाणु।

1. स्कन्ध—स्कन्ध एक इकाई है। दो से लेकर अनन्त परमाणुओं के समूह को स्कन्ध कहते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। दस परमाणुओं के मिलने से दसप्रदेशी स्कन्ध बनता है। संख्येय परमाणुओं के मिलने से संख्येय प्रदेशी, असंख्येय परमाणुओं के मिलने से असंख्येय प्रदेशी तथा अनन्त परमाणुओं के मिलने से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बनते हैं। अनन्तानन्त

प्रदेशी स्कन्ध ही हमारी दृष्टि के विषय बनते हैं। संख्येय-असंख्येय प्रदेशी स्कन्ध सूक्ष्म होने के कारण हमारी दृष्टि के विषय नहीं बनते हैं।

2. देश—स्कन्ध का बुद्धि कल्पित एक विभाग देश कहलाता है। जब हम कल्पना करते हैं कि यह इस पेन्सिल का आधा भाग है या यह इस पुस्तक का एक पृष्ठ है, तब वह उस समग्र स्कन्ध रूप पेन्सिल या पुस्तक का एक देश कहलाता है। देश स्कन्ध से पृथक् नहीं होता। पृथक् होने पर वह देश नहीं रहता, स्वतंत्र स्कन्ध बन जाता है।

3. प्रदेश—परमाणु जितने वस्तु के भाग को प्रदेश कहते हैं। परमाणु और प्रदेश का माप बराबर होता है। परमाणु जब तक स्कन्धगत है, तब तक वह प्रदेश कहलाता है। दूसरे शब्दों में स्कन्ध का सूक्ष्मतम भाग, जब तक वह स्कन्ध के साथ जुड़ा हुआ है, प्रदेश कहलाता है। पर वही सूक्ष्मतम भाग जब स्कन्ध से अलग हो जाता है, तब उसे परमाणु कहा जाता है। उदाहरणतः एक वस्त्र हजारों-हजारों तंतुओं से बना एक स्कन्ध है। कल्पना से प्रत्येक तंतु को एक प्रदेश मान लें। इस प्रकार एक वस्त्र में हजारों-हजारों प्रदेश हो गए। यदि हम उस वस्त्र में से एक तंतु बाहर निकाल लें तो वह तंतु फिर प्रदेश नहीं अपितु परमाणु कहलाएगा अर्थात् जब तक वह तंतु वस्त्र से जुड़ा हुआ है तब तक प्रदेश है और जब वस्त्र से अलग हो गया तो परमाणु बन गया।

4. परमाणु—जिसका विभाग न हो उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु अविभाज्य, अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य है। सूक्ष्मता के कारण उसका न कोई आदि है, न मध्य है, न अन्त है। वह इन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं है। परमाणु में एक गन्ध, एक वर्ण, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कन्ध से अपृथग्भाव और पृथग्भाव का अन्तर है।

पुद्गल का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की दृष्टि से पुद्गल को इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—पुद्गल अनन्त हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—पुद्गल सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

काल की दृष्टि से—पुद्गल अनादि-अनन्त हैं।

भाव की दृष्टि से—पुद्गल मूर्त हैं।

गुण की दृष्टि से—पुद्गल गलन-मिलन स्वभाव वाले हैं।

6. जीवास्तिकाय

जिसमें चेतना होती है, उसे जीव कहते हैं। जीवास्तिकाय से तात्पर्य सम्पूर्ण जीवों के समूह से है। द्रव्य-संग्रह में जीव के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है—जीव (आत्मा) उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, देह परिमाण है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

जीव का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की दृष्टि से जीव का स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—जीव अनन्त हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

काल की दृष्टि से—जीव अनादि-अनन्त हैं।

भाव की दृष्टि से—जीव अमूर्त, अभौतिक, चैतन्ययुक्त है।

गुण की दृष्टि से—जीव चैतन्य स्वरूप, ज्ञान-दर्शन युक्त है।

द्रव्य से जीव अनन्त हैं। इसका तात्पर्य है कि वे धर्मास्तिकाय आदि की तरह असंख्येय प्रदेशात्मक एक ही अविभाज्य पिण्ड नहीं

हैं। असंख्येय प्रदेशात्मक अनन्त जीव हैं। क्षेत्र से लोक प्रमाण कहने का तात्पर्य एक ही जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है, ऐसा नहीं है अपितु इसका आशय यह है कि लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ जीव न हो। आत्मा कभी उत्पन्न नहीं हुई अतः अनादि-अनन्त है। वह अमूर्त है। उसका विशेष गुण चैतन्य है। चैतन्य गुण के द्वारा आत्मा को जाना जाता है।

इस प्रकार द्रव्य छः ही माने गए हैं, क्योंकि इनके ये विशेष गुण एक-दूसरे से नहीं मिलते। जो गुण दूसरे द्रव्यों में भी पाए जाते हैं, उनके आधार पर उन्हें स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना जा सकता। इसलिए द्रव्य छः ही हैं। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अनन्त होती हैं।

4. परमाणु

जैन दर्शन में छः द्रव्यों के अन्तर्गत परमाणु की स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में गणना नहीं की गई है। उसे पुद्गल का अंश माना गया है। परमाणु पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई है।

परमाणु की परिभाषा

परम+अणु—परमाणु का तात्पर्य है—वस्तु का अन्तिम अविभाज्य अंश। परमाणु को परिभाषित करते हुए कहा गया—अविभाज्यः परमाणु, जिसका कभी विभाग न हो, जो कभी टूट न सके, उस सूक्ष्मतम पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। परमाणु की विस्तृत परिभाषा देते हुए लिखा गया—

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।

एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिंगश्च॥

जो किसी भी पौद्गलिक पदार्थ का अन्तिम कारण है, सूक्ष्म है, नित्य है, एक रस, एक गंध, एक वर्ण तथा दो स्पर्शयुक्त है और जिसका अस्तित्व दृश्यमान कार्यों से जाना जाता है, वह परमाणु है।

❖ **अन्तिम कारण**—परमाणु को पौद्गलिक पदार्थों का अन्तिम कारण माना गया है। अन्तिम कारण वह होता है, जिसके बिना कार्य होता ही नहीं है। छोटे-बड़े सभी स्कन्ध परमाणुओं के मिलने से ही बनते हैं। परन्तु परमाणु किसी से नहीं बनता अतः वह अन्तिम कारण है।

❖ **सूक्ष्म**—परमाणु सर्वाधिक सूक्ष्म है। इससे सूक्ष्म कुछ भी नहीं है। अतः यह अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल खण्ड है। ऐसे सूक्ष्म परमाणु को हवा उड़ा नहीं सकती, पानी बहा नहीं सकता और अग्नि जला नहीं सकती।

❖ **नित्य**—परमाणु नित्य है। वह सदा परमाणु था, परमाणु है और परमाणु रहेगा।

❖ **रस, गंध, वर्ण और स्पर्श**—परमाणु में एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं।

❖ **कार्यलिंग**—परमाणु के अस्तित्व का अनुमान उसके कार्य से किया जा सकता है। परमाणु को इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता।

परमाणु का स्वरूप

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से परमाणु को इस प्रकार समझा जा सकता है—

द्रव्य की दृष्टि से—परमाणु पुद्गलास्तिकाय द्रव्य है। इसमें गुण और पर्याय दोनों होते हैं। संख्या की दृष्टि से परमाणु अनन्त हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से—क्षेत्र की दृष्टि से एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश का अवगाहन करता है, एक से अधिक प्रदेशों का अवगाहन नहीं कर सकता।

काल की दृष्टि से—काल की दृष्टि से परमाणु का अस्तित्व अनादि काल से था और अनन्त काल तक उसका अस्तित्व रहेगा।

भाव की दृष्टि से—भाव या गुण की दृष्टि से परमाणु में केवल एक वर्ण, एक गंध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। परन्तु वर्ण आदि की मात्रा या गुण (unit) की तरतमता के कारण उसके अनन्त प्रकार हो जाते हैं।

परमाणु इन्द्रियगम्य नहीं—परमाणु मूर्त होते हुए भी इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्म है। परमाणु इतना सूक्ष्म है कि इसका आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है। इसे इन्द्रियों के द्वारा जाना नहीं जा सकता। केवलज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही इसे जाना जा सकता है।

परमाणु की गतिक्रिया

परमाणु जड़ होता हुआ भी गतिधर्मा है। यदि बाहर का कोई प्रभाव न हो तो परमाणु की गति सदा अनुश्रेणी अर्थात् सीधी रेखा में होती है और यदि बाह्य प्रभाव हो तो परमाणु की गति और दिशा में अन्तर आ सकता है। जैन दर्शन के अनुसार परमाणु की गति न्यूनतम एक समय में एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश पर और अधिकतम लोक के एक अन्त से दूसरे अन्त तक एक समय में हो सकती है।

अत्यन्त तीव्र वेगमय गति में परमाणु मध्यवर्ती आकाश का स्पर्श किये बिना ही गति करता है। इस गति को जैन दर्शन में अस्पृशद् गति कहा गया है। क्वांटम भौतिकी में इलेक्ट्रॉन से एक कक्षा से दूसरी कक्षा में छलांग लगाने (jump) की जो अवधारणा है, वह इस अस्पृशद् गति से काफी समानता रखती है। क्वांटम छलांग में जब परमाणु ऊर्जा ग्रहण करते हैं तो उनके इलेक्ट्रॉन बाह्य कक्षाओं में से किसी एक में उछल कर चले जाते हैं तथा फिर

लौटते हैं, पर वे कभी किसी कक्षा के मध्य दिखाई नहीं देते। मध्यवर्ती आकाश से बिना गुजरे ही वे एक कक्षा से दूसरी कक्षा में छलांग लगाते हुए प्रतीत होते हैं। अस्पृशद् गति का तात्पर्य भी यही है कि मध्यवर्ती स्थान को छुए बिना ही स्वस्थान से लक्षित स्थान में पहुँच जाना।

जैन परमाणु और विज्ञान का परमाणु

जैन दर्शन के अनुसार परमाणु का विभाजन नहीं होता। विज्ञान भी अणु (Atom) को मानता है। विज्ञान के अनुसार अणु का विभाजन होता है। यह प्रोटोन और इलेक्ट्रॉन में विभक्त होता है। इस प्रकार विज्ञान की मान्यता के अनुसार 'एटम' के टुकड़े किये जा सकते हैं और एटम से ही सभी पदार्थ बनते हैं। यही सभी पदार्थों का अंतिम कारण है।

जैन आगम अनुयोगद्वारा में दो प्रकार के परमाणु का उल्लेख मिलता है—

1. सूक्ष्म परमाणु,
2. व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु जैन दर्शन का मूल परमाणु है, जो कि अविभाज्य है। किन्तु व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्मतम परमाणुओं के समुदाय से बनता है। वह परमाणु पिण्ड है किन्तु वह भी इतना सूक्ष्म है कि उसे साधारण दृष्टि से देखा नहीं जा सकता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा भी नहीं जा सकता इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान जिसे परमाणु मानता है, उसकी तुलना जैन दर्शन के व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन दृष्टि को भी स्वीकार है। सूक्ष्म परमाणु निरवयव होने से उसे तोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु व्यावहारिक परमाणु सावयव है अतः उसे तोड़ना संभव है। इस प्रकार

जैन दर्शन का मूल परमाणु अविभाज्य है जबकि विज्ञान का एटम विभाज्य है।

परमाणु मिलन के नियम

जैन दर्शन के अनुसार परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है। परमाणुओं के मिलने का मूलभूत कारण उनमें पाया जाने वाला स्निग्ध और रुक्ष गुण है। स्निग्ध और रुक्ष को वैज्ञानिक भाषा में पोजेटिव और निगेटिव विद्युत कहा जाता है। प्रश्न होता है कि स्निग्ध परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ मिलन होता है या रुक्ष परमाणुओं का रुक्ष परमाणुओं के साथ मिलन होता है। जैन दर्शन में परमाणु मिलन के अनेक विकल्प मिलते हैं। यथा—स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, रुक्ष का रुक्ष के साथ, स्निग्ध का रुक्ष के साथ, रुक्ष का स्निग्ध के साथ मिलन हो सकता है। पर यह मिलन उसी स्थिति में होता है जबकि परमाणु के गुण अजघन्य गुण वाले हों। जघन्य गुण वालों के साथ मिलन नहीं होता। जघन्य से तात्पर्य एक गुण से है तथा अजघन्य से तात्पर्य एक से अधिक गुण से है।

एक गुण वाले परमाणुओं का एक गुण वाले परमाणुओं के साथ संबंध नहीं होता। इसका फलितार्थ यह है कि स्निग्ध परमाणु रुक्ष परमाणु के साथ या रुक्ष परमाणु स्निग्ध परमाणु के साथ मिलें तब वे दोनों ही कम से कम द्विगुण स्निग्ध और द्विगुण रुक्ष होने चाहिए। यदि इनमें एक ओर भी कमी हो तो उनका संबंध नहीं हो सकता। यह विजातीय अर्थात् स्निग्ध और रुक्ष परमाणुओं के एकीभाव की प्रक्रिया है। सजातीय परमाणुओं का एकीभाव दो गुण अधिक या उससे अधिक गुण वाले परमाणुओं के साथ होता है। स्निग्ध परमाणुओं का स्निग्ध परमाणुओं के साथ एवं रुक्ष परमाणुओं का रुक्ष परमाणुओं के साथ सम्बन्ध तब होता है, जब उनमें दो गुण या उनसे अधिक गुणों का अन्तर मिले। उदाहरण स्वरूप दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार या चार से अधिक गुण स्निग्ध परमाणुओं

के साथ सम्बन्ध होता है किन्तु समान गुण वाले या एक गुण अधिक परमाणु के साथ सम्बन्ध नहीं होता।

इस प्रकार जैन दर्शन में परमाणु का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। विज्ञान जिसे परमाणु मानता है, जैन दर्शन के अनुसार वह अनन्त परमाणुओं का समूह होने के कारण उसे वास्तविक परमाणु नहीं, अपितु व्यावहारिक परमाणु कहा जा सकता है।

5. लोकवाद

विश्व, जगत्, सृष्टि अथवा संसार के लिए जैन परम्परा में सामान्य रूप से लोक शब्द का व्यवहार हुआ है। यह विराट् विश्व जो हमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वह क्या है? इसका प्रारम्भ कब हुआ? इसका अन्त कब होगा? इसका आकार कैसा है? आदि अनेक प्रश्न मानव-मस्तिष्क में उभरते रहते हैं। इन प्रश्नों का समाधान विभिन्न विचारकों ने विभिन्न प्रकार से किया है। आधुनिक विज्ञान भी इन तथ्यों की खोज में अनवरत प्रयत्नशील है।

लोक क्या है?

लोक शब्द पारिभाषिक शब्द है, जो व्यवहार में प्रचलित विश्व (Cosmos अथवा Universe) का वाच्य है। यह लोक क्या है? इसका उत्तर दो रूपों में मिलता है। कहीं पर पंचास्तिकाय को लोक कहा गया है तो कहीं पर षड्द्रव्य को लोक माना गया है। भगवतीसूत्र में बताया गया है—लोक पंचास्तिकायरूप—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय रूप है। अन्य ग्रन्थों में षड्द्रव्यात्मको लोकः कहकर इन पांच अस्तिकायों के साथ छठा काल को मानकर लोक को षड्द्रव्यात्मक कहा गया है।

1. धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से सहायक द्रव्य।

2. अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन भाव से सहायक द्रव्य।
3. आकाशास्तिकाय—सभी द्रव्यों को आश्रय देने वाला द्रव्य।
4. काल—द्रव्यों के परिणमन में सहायक द्रव्य।
5. पुद्गलास्तिकाय—स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त द्रव्य।
6. जीवास्तिकाय—चैतन्य से युक्त द्रव्य।

इनका विस्तृत विवेचन षड्द्रव्य के अन्तर्गत किया जा चुका है। इस प्रकार लोक वह है, जहाँ पर छहों द्रव्य की सहस्थिति-सहावस्थान है। इसके विपरीत अलोक वह है, जहाँ छहों द्रव्य नहीं, केवल आकाश द्रव्य है। अलोक असीम है और लोक ससीम है। ससीम होते हुए भी लोक बहुत विस्तृत है, तथापि अलोक की अपेक्षा बहुत छोटा है। दृष्टान्त की भाषा में अलोक एक कपड़े का थान है तो लोक उसके एक छिद्र के समान है।

लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक और अलोक का स्वरूप समझने के बाद प्रश्न होता है लोक और अलोक का विभाजक तत्त्व क्या है? लोक और अलोक का विभाजन शाश्वत है, अतः इसका विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त और कोई शाश्वत पदार्थ नहीं है इसलिए इन्हीं में से कोई विभाजक तत्त्व होना चाहिए। आकाश विभाजक तत्त्व नहीं बन सकता, क्योंकि वह स्वयं विभज्यमान है। काल तत्त्व भी विभाजन का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता और नैश्चयिक काल लोक-अलोक दोनों में मिलता है, क्योंकि वह जीव और अजीव की पर्याय मात्र है। काल वास्तविक द्रव्य भी नहीं है। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिमाण वाले तत्त्व हैं जबकि लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर

और व्यापक तत्त्व होना चाहिए, अतः ये भी विभाजक तत्त्व नहीं बन सकते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। ये दो द्रव्य जिस आकाश खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। अतः धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व हैं। जहाँ तक ये तत्त्व हैं, वह लोक और जहाँ खाली आकाश है, वह अलोक है। अलोक में इन दोनों तत्त्वों का अभाव होने से वहाँ जीव और पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती।

लोक के प्रकार

यह लोक तीन भागों में विभक्त है—

1. ऊर्ध्वलोक,
2. मध्यलोक (तिर्यक् लोक),
3. अधोलोक।

1. ऊर्ध्वलोक

जहाँ पर हम लोग रहते हैं, उससे नौ सौ योजन ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से देवों का निवास है। इसीलिए उसे देवलोक, ब्रह्मलोक, स्वर्गलोक भी कहते हैं। अन्तिम देवलोक का नाम सर्वार्थसिद्ध है। उससे बारह योजन ऊपर सिद्ध-शिला है, जहाँ मुक्त जीव रहते हैं। इस स्थान के बाद लोक का अंत हो जाता है तथा केवल आकाश अर्थात् अलोक रह जाता है।

2. मध्यलोक

मध्यलोक 1800 योजन प्रमाण है। इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र परस्पर एक-दूसरे को घेरे हुए हैं। इतने विशाल क्षेत्र में केवल अढ़ाई-द्वीप में ही मनुष्य का निवास माना गया है। जम्बूद्वीप,

धातकी खण्ड और अर्धपुष्कर ये ढाई-द्वीप हैं। यद्यपि मध्यलोक का क्षेत्र विशाल है किन्तु ऊर्ध्वलोक और अधोलोक की तुलना में इसका क्षेत्रफल शून्य के बराबर है।

3. अधोलोक

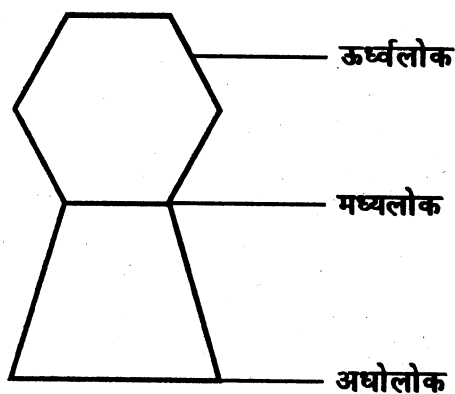
इस समतल भूमि के नीचे नौ सौ योजन की गहराई के बाद अधोलोक का प्रारम्भ होता है। इसका आकार औंधे किये हुए सकोरे के समान है। इसमें नीचे-नीचे क्रमशः सात पृथ्वियां हैं, जो सात नारकों के नाम से जानी जाती हैं। वहाँ नारक के जीव निवास करते हैं। नारकों के निवास को नरक भूमि कहते हैं। ये सात नरक भूमियाँ समश्रेणी में न होकर एक-दूसरे के नीचे हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई भी समान नहीं है। पहली नरक भूमि से दूसरी नरक भूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है। दूसरी से तीसरी की, इस प्रकार उत्तरोत्तर लम्बाई-चौड़ाई अधिक होती गई है। ये सातों नरक भूमियाँ एक-दूसरे के नीचे हैं, परन्तु बिल्कुल सटी हुई नहीं हैं। इनके बीच में बहुत अन्तर है। नरक के जीवों को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त भयंकर वेदना होती है। पल भर भी उन्हें चैन नहीं मिलता।

लोक का परिमाण

जैन दर्शन के अनुसार लोक चौदह रज्जु परिमाण है। ऊर्ध्वलोक सात रज्जु से कुछ अधिक का है। अधोलोक सात रज्जु से कुछ कम है। मध्य लोक अठारह सौ योजन का है। इन तीनों को मिलाकर चौदह रज्जु होता है। यह चौदह रज्जु का लोक सातवें नरक-तमस्तमा के नीचे से प्रारम्भ होकर सिद्धशिला के अन्तिम छोर तक है। रज्जु का अर्थ रस्सी होता है, पर यह कोई छोटी-मोटी रस्सी नहीं अपितु एक माप है। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र समा जाएँ उतना बड़ा एक रज्जु होता है।

लोक का आकार

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकरा है और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। लोक त्रिशरावसंपुट आकार वाला है। तीन सिकोरों में से प्रथम सिकोरे को जमीन पर उल्टा, दूसरे को उस पर सीधा और तीसरे सिकोरे को उस पर पुनः उल्टा रखने से जो आकार बनता है, वही लोक का आकार है। जैन शास्त्रों में इसे त्रिशरावसंपुटाकार या सुप्रतिष्ठिक संस्थान कहा गया है। निम्न चित्र के माध्यम से हम लोक के आकार को समझ सकते हैं—



पांव फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के आकार की उपमा भी लोक के आकार के लिए दी जाती है।

लोक की स्थिति

प्रश्न होता है यह दृश्यमान जगत् किस पर ठहरा हुआ है। पुराणों में शेषनाग, कच्छप आदि पर यह विश्व अवस्थित है, ऐसी विभिन्न अवधारणाएँ हैं। भगवतीसूत्र के अनुसार गौतम ने भगवान महावीर से प्रश्न पूछा—भंते! लोक की स्थिति कितने प्रकार की है? भगवान ने कहा—लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं—

1. वायु आकाश पर स्थित है।
2. समुद्र वायु पर अवस्थित है।
3. पृथ्वी समुद्र पर स्थित है।
4. त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर स्थित हैं।
5. अजीव जीव पर प्रतिष्ठित हैं।
6. जीव कर्म से प्रतिष्ठित है।
7. अजीव जीव के द्वारा संगृहीत हैं।
8. जीव कर्म के द्वारा संगृहीत हैं।

आकाश किसी पर प्रतिष्ठित नहीं, वह स्वप्रतिष्ठित है।

भगवती सूत्र के उपर्युक्त विवेचन का सारांश यही है कि त्रस-स्थावर आदि प्राणियों का आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का आधार उदधि (समुद्र) है, उदधि का आधार वायु है, वायु का आधार आकाश है और आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

प्रश्न हो सकता है कि वायु पर समुद्र और समुद्र पर पृथ्वी कैसे ठहर सकती है? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—कोई पुरुष वैज्ञानिक ढंग की बनी थैली को हवा भरकर फुला दे। फिर उसके मुँह को फीते से मजबूत गाँठ देकर बांध दे तथा इस थैली के बीच के भाग को भी बांध दे। ऐसा करने से थैली में भरी हुई हवा के दो भाग हो जाएँगे, जिससे थैली दुगडुगी जैसी लगेगी। उसके बाद थैली का मुँह खोलकर ऊपर के भाग में भरी हवा को निकाल दे और उसकी जगह पानी भरकर फिर थैली का मुँह बन्द कर दे। इसके बाद बीच का बंधन खोल दे। ऐसा करने पर जो पानी थैली के ऊपर के भाग में भरा गया है, वह ऊपर के भाग में ही रहेगा और नीचे के भाग में जो वायु है, पानी उसके ऊपर ही ठहरेगा, नीचे नहीं जा सकता, क्योंकि ऊपर के भाग में जो पानी है, उसका आधार थैली के नीचे के भाग की वायु है।

जैसे थैली में हवा के आधार पर पानी ठहरा हुआ है, वैसे ही वायु के आधार पर उदधि और उदधि के आधार पर पृथ्वी प्रतिष्ठित है।

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार लोक षड् द्रव्यात्मक है। लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय है। यह लोक चौदह रज्जु परिमाण तथा त्रिशरावसंपुटाकार वाला है।

प्रश्नावली

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. जैन दर्शन के अनुसार सत् के स्वरूप का विवेचन करें।
2. द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को बताते हुए उनके भेदाभेद का विवेचन करें।
3. जैन दर्शन के अनुसार षड् द्रव्य को समझाते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालें।
4. अस्तिकाय को परिभाषित करते हुए पंचास्तिकाय का विवेचन करें।
5. जैन दर्शन के अनुसार परमाणु की अवधारणा पर प्रकाश डालें।
6. जैन दर्शन में प्रतिपादित लोक के स्वरूप को विस्तार से समझाएँ।

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

1. धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्पष्ट करें।
2. पुद्गलास्तिकाय का विवेचन करें।
3. पर्याय किसे कहते हैं, उसके प्रकारों का विवेचन करें।
4. द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदाभेद को समझाएँ।
5. लोक के आकार पर प्रकाश डालें।
6. लोक की स्थिति को समझाएँ।

इकाई-2

तत्त्वमीमांसा

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह जीव और अजीव—इन दो तत्त्वों के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। जीव के लिए जैन दर्शन में आत्मा शब्द का प्रयोग किया जाता है। सिद्ध और संसारी के भेद से आत्मा के मुख्य दो प्रकार हैं। आत्मा अमूर्त होने के कारण इन्द्रिय गम्य नहीं है। फिर भी उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क दिये जाते हैं। आत्मा शरीर परिमाण है। अपने कर्मों के आधार पर जैसा छोटा-बड़ा शरीर आत्मा को मिलता है, वह उसी में निवास करता है। आत्मा और शरीर का यह संबंध अनादि काल से चला आ रहा है। जब तक यह संबंध है तब तक पुनर्जन्म की परम्परा चालू रहती है। समस्त कर्मों का क्षय होने पर आत्मा शरीर के बंधन से मुक्त हो जाती है। प्रस्तुत इकाई में आत्मा का स्वरूप, आत्मा के भेद-प्रभेद, आत्मा की सिद्धि, आत्मा का परिमाण, आत्मा-शरीर संबंध, पुनर्जन्म आदि विषयों का विवेचन किया जा रहा है।

1. आत्मा का स्वरूप

आत्म तत्त्व भारतीय दार्शनिकों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु रहा है। आत्मा के अस्तित्व, उसके स्वरूप आदि के विषय में भारतीय मनीषियों ने प्रभूत चिन्तन किया है। पाश्चात्य दर्शन में भी आत्मा पर विमर्श हुआ है। आत्मा की अवधारणा जैन दर्शन में प्रमुख एवं मौलिक है। आत्मा के लिए जैन दर्शन में अनेक नाम प्रयुक्त हुए हैं, उनमें से जीव भी एक है। यद्यपि जो जन्म-मरण करे, वह जीव कहलाता है और आत्मा शब्द से मुक्त आत्मा का बोध होता है। लेकिन जैन दर्शन में जीव और आत्मा एक ही तत्त्व के दो नाम हैं, इनमें कोई भेद नहीं है। सम्पूर्ण जैन आचार मीमांसा आत्मवाद की अवधारणा पर अवलम्बित है अतः आत्म तत्त्व को समझना आवश्यक है।

आत्मा एक द्रव्य है

जो तत्त्व चेतन स्वरूप है, ज्ञानवान है, सभी को जानता-देखता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है, उसे जीव या आत्मा कहते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को अमूर्त, अविनाशी और असंख्यात (अखण्ड) प्रदेशी द्रव्य माना गया है। द्रव्य के दो लक्षण हैं, पहला—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हो, वह सत् (द्रव्य) है। दूसरा—जो गुण-पर्याय से युक्त हो, वह द्रव्य है। आत्मा एक द्रव्य है अतः द्रव्य के ये दोनों लक्षण आत्मा में पाए जाते हैं। आत्मा के पूर्व पर्याय का विनाश (व्यय) होता है और उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती है किन्तु द्रव्य दृष्टि से जो पूर्व-पर्याय में था, वही उत्तर-पर्याय में रहता है अतः द्रव्य का पहला लक्षण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य आत्मा में पाया जाता है। द्रव्य का दूसरा लक्षण—द्रव्य, गुण और पर्याय युक्त होता है—यह भी आत्मा में पाया जाता है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व—ये आत्मा के विशेष गुण हैं तथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि आत्मा के सामान्य गुण हैं। आत्मा में स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार की पर्याय पायी जाती हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य को आत्मा की स्वभाव पर्याय कहा गया है तथा मनुष्य, तिर्यच, नारक और देव गतियों में आत्म-प्रदेशों का शरीर के आकार में परिणमन होने को आत्मा की विभाव पर्याय कहा गया है।

आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसने आत्मा के अस्तित्व के साथ-साथ उसके स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। जैन दर्शन में शुद्धात्मा (मुक्त आत्मा) और अशुद्धात्मा (संसारी आत्मा) की दृष्टि से आत्मा के दो भेद किये गए हैं। जो सभी कर्मों से मुक्त होकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह शुद्धात्मा है और जो कर्मों से युक्त होने के कारण संसार में अनादि काल से परिभ्रमण कर रही है, वह अशुद्धात्मा है।

जैन आचार्यों ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन भावात्मक और निषेधात्मक दोनों दृष्टियों से किया है। भावात्मक पद्धति में उन्होंने बतलाया कि आत्मा क्या है और निषेधात्मक पद्धति में उन्होंने बतलाया कि आत्मा क्या नहीं है।

शुद्धात्म-स्वरूप को बताते हुए आचार्य कुंदकुंद ने कहा—आत्मा निर्ग्रन्थ, वीतराग, निःशल्य और क्रोध, मान, माया, लोभ से रहित है। वह उपयोग स्वरूप, अमूर्त, अनादि-निधन, सत्-चित-आनन्द स्वरूप है। वह अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य युक्त है। उस शुद्ध आत्मा का शब्दों के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। तर्क और बुद्धि के द्वारा उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसका न कोई रूप है और न कोई रंग, न कोई गंध है और न कोई स्पर्श। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श पुद्गल के लक्षण हैं। आत्मा पुद्गल नहीं है।

प्रश्न होता है आखिर आत्मा है क्या? उसका स्वरूप क्या है? उसका कार्य क्या है? इस सन्दर्भ में उसकी विधायक परिभाषा देते हुए कहा गया—शुद्धात्मा केवल ज्ञाता है। वह सर्वतः चैतन्यमय है। उसे बताने के लिए कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है। उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है। वह अज्ञेय, अदृश्य और निरूपमेय है।

द्रव्य-संग्रह में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।

भोक्ता संसारत्थो सिद्धो सोविस्स सोड्डगई।।

आत्मा उपयोगमय है, अमूर्त है, कर्ता है, देह-परिमाणी है, भोक्ता है, संसार में स्थित है, सिद्ध है और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

1. **उपयोगमय स्वरूप**—आत्मा का स्वरूप उपयोग है। ज्ञान और दर्शन उपयोग कहलाता है। आत्मा जिसके द्वारा जानता है, उसे ज्ञान उपयोग तथा जिसके द्वारा देखता है, उसे दर्शन उपयोग कहा जाता है। ज्ञान का अर्थ विशेष बोध और दर्शन का अर्थ सामान्य बोध है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये ज्ञानोपयोग हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन—ये चार दर्शनोपयोग हैं। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर सिद्धों तक में यह ज्ञान और दर्शन कम या अधिक रूप में पाया जाता है। ज्ञान-दर्शन का पूर्ण विकास केवलज्ञानी और सिद्धों में होता है।

2. **अमूर्त स्वरूप**—जैन दर्शन में आत्मा को अमूर्त माना गया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से उसमें पुद्गल के गुण स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि नहीं होते, इसलिए वह अमूर्त है। किन्तु संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण उसमें रूप, रस, गंध आदि पाए जाते हैं, जिससे उसे कथंचित् मूर्त भी माना जाता है, पर यह मूर्तत्व चेतना का विभाव है, स्वभाव नहीं। अतः आत्मा का शुद्ध स्वरूप अमूर्त है।

3. **कर्त्ता स्वरूप**—आत्मा शरीर से युक्त है तब तक वह शुभाशुभ कर्मों की कर्त्ता है। पर वास्तव में शुद्ध आत्मा जड़ कर्मों की कर्त्ता नहीं अपितु चैतसिक भावों की कर्त्ता है।

4. **देहपरिमाणत्व स्वरूप**—निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा का शरीर और आकार नहीं होता किन्तु संसारी आत्मा बिना शरीर के नहीं रह सकती। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा देहपरिमाण है। उसे अपने कर्मों के अनुसार जैसा छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, वह उसी में व्याप्त हो जाता है। चीटी जैसा छोटा शरीर मिलने पर आत्म-प्रदेश संकुचित और हाथी जैसा मोटा शरीर मिलने पर वे विस्तृत हो जाते हैं। अतः संसारी आत्मा संकोच-विकोच की शक्ति के कारण देह-परिमाण हैं।

5. **भोक्ता स्वरूप**—आत्मा कर्मों की कर्ता है अतः वह अपने किए कर्मों की भोक्ता भी है। व्यवहार में संसारी आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल कर्मों की भोक्ता है और निश्चय में वह अपने चैतन्यात्मक आनन्द स्वरूप की भोक्ता है।

6. **संसारी स्वरूप**—संसार में अनादिकाल से परिभ्रमण करने वाली आत्मा कर्मों से बद्ध होने के कारण अशुद्ध है। वह पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को नष्ट कर शुद्ध होती है। यदि आत्मा पहले संसारी न होती तो उसकी मुक्ति के उपाय की खोज भी व्यर्थ होती।

7. **सिद्ध स्वरूप**—जब तक जीव राग-द्वेषादि विषय विकारों से ग्रसित रहता है, तब तक वह संसारी कहलाता है और जब सम्पूर्ण कर्मों से अपने आपको मुक्त कर लेता है तो वह सिद्ध कहलाता है।

8. **ऊर्ध्वगामित्व स्वरूप**—आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगति है। जैसे दीपक की लौ स्वभाव से ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही शुद्ध दशा में आत्मा भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली है। हवा से प्रकम्पित दीपक की लौ जैसे टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है, वैसे ही अशुद्ध आत्मा कर्मों की हवा से प्रेरित होकर चारों गतियों में इधर-उधर भ्रमण करती है। कर्मों से मुक्त होते ही ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण आत्मा सीधे लोक के अग्रभाग में जाकर स्थित हो जाती है।

9. **परिणामीनित्यत्व स्वरूप**—आत्मा परिणामीनित्य है। परिणामीनित्य से तात्पर्य यह है कि आत्मा न केवल नित्य, न केवल अनित्य अपितु नित्यानित्य है अर्थात् नित्य भी है, अनित्य भी है। अस्तित्व की दृष्टि से आत्मा का कभी नाश नहीं होता अतः वह नित्य है किन्तु उसमें परिणमन का क्रम कभी समाप्त नहीं होता, हर क्षण परिवर्तन होता रहता है, अतः वह अनित्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में आत्मा का स्वरूप उपयोगमय, अमूर्त, कर्ता, भोक्ता, देहपरिमाण, ऊर्ध्वगामी, परिणामीनित्य आदि माना गया है।

2. आत्मा के भेद-प्रभेद

जैन दर्शन में आत्मा के भेद-प्रभेद अनेक दृष्टियों से किये गए हैं। द्रव्य की दृष्टि से सभी आत्माएँ एकरूप हैं, उनमें कोई भेद-प्रभेद नहीं है। आठों कर्मों से मुक्त होने पर मुक्तावस्था को प्राप्त सिद्ध आत्माओं में कोई अन्तर नहीं होता। पर्याय की दृष्टि से आत्माओं में भिन्नता पायी जाती है। आत्मा के वर्गीकरण की जितनी विभिन्नता जैन दर्शन में पायी जाती है, उतनी अन्य किसी दर्शन में नहीं। जैन दर्शन में विविध दृष्टियों से आत्मा के भेद-प्रभेदों का विवेचन किया गया है, जिनमें मुख्य हैं—

1. चैतन्य गुण की व्यक्तता-अव्यक्तता की अपेक्षा से भेद।
2. इन्द्रिय की अपेक्षा से भेद।
3. गति की अपेक्षा से भेद।
4. अध्यात्म की अपेक्षा से भेद।

चैतन्य गुण की अपेक्षा से भेद

आत्मा का गुण चैतन्य है। यह चैतन्य गुण सभी आत्माओं में समान रूप से व्यक्त (प्रकट) नहीं रहता। चैतन्य गुण की व्यक्तता और अव्यक्तता के आधार पर आत्मा के दो भेद किये गए हैं—स्थायर आत्मा और त्रस आत्मा।

1. स्थावर आत्मा

जिसमें गमन करने की शक्ति का अभाव होता है, उसे स्थावर आत्मा कहते हैं। जिनमें सुख की प्रवृत्ति और दुःख से निवृत्ति के लिए सलक्ष्य गमनागमन की क्रिया नहीं होती वे स्थावर जीव के अन्तर्गत आते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति के जीव स्थावर कहलाते हैं। ये अपने सुख-दुःख के लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं कर सकते। स्थावर काय के जीव निम्नलिखित हैं—

1. **पृथ्वीकायिक**—काय का अर्थ है—शरीर। पृथ्वी है जिन जीवों का शरीर, वे जीव पृथ्वीकायिक हैं। मिट्टी, बालू, लवण, सोना, चांदी, हीरा, पन्ना, कोयला आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं।

2. **अपकायिक**—पानी जिन जीवों का शरीर है, वे अपकायिक जीव हैं। सब प्रकार का पानी, ओले, कुहरा, ओस आदि अपकायिक जीव हैं।

3. **तैजसकायिक**—जिन जीवों का शरीर अग्नि है, वे जीव तैजसकायिक जीव कहलाते हैं। अंगारा, ज्वाला, उल्का आदि का समावेश तैजसकायिक जीवों में होता है।

4. **वायुकायिक**—जिन जीवों का शरीर वायु है, वे जीव वायुकायिक कहलाते हैं। संसार में जितने प्रकार की वायु है, उन सबका समावेश इसमें हो जाता है।

5. **वनस्पतिकायिक**—जिन जीवों का शरीर वनस्पति है, वे जीव वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। कंद, मूल, टमाटर, ककड़ी, वृक्ष आदि का समावेश इसमें होता है।

2. त्रस आत्मा

त्रस आत्मा में चैतन्य व्यक्त होता है और स्थावर आत्मा में अव्यक्त। जो जीव सुख पाने के लिए और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन कर सकते हैं, वे जीव त्रस कहलाते हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस जीव के अन्तर्गत आते हैं।

उत्पत्ति के आधार पर त्रस जीवों के आठ प्रकार हैं—

1. **अण्डज**—वे त्रस जीव, जो अण्डों से पैदा होते हैं, जैसे—पक्षी, सर्प आदि।

2. **पोतज**—वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय खुले अंगों सहित होते हैं, जैसे—हाथी आदि।

3. जरायुज—वे त्रस जीव, जो अपने जन्म के समय मांस की झिल्ली में लिपटे रहते हैं, जैसे—मनुष्य, गाय, भैंस आदि।

4. रसज—वे त्रस जीव जो दही आदि रसों में उत्पन्न होते हैं, जैसे—कृमि आदि।

5. स्वेदज—वे त्रस जीव, जो पसीने से उत्पन्न होते हैं, जैसे—जूं, लीख आदि।

6. सम्पृच्छिम—वे त्रस जीव, जो नर-मादा के संयोग के बिना ही उत्पन्न होते हैं, जैसे—मक्खी, चींटी आदि।

7. उद्भिज—वे त्रस जीव, जो पृथ्वी को फोड़कर निकलते हैं, जैसे—टिड्डी, पतंगा आदि।

8. औपपातिक—वे त्रस जीव, जो गर्भ में रहे बिना ही स्थान विशेष में पैदा होते हैं, जैसे—देव, नारक आदि।

इन्द्रिय की अपेक्षा से आत्मा के भेद

आत्मा का लिंग इन्द्रिय है। जैन दर्शन में स्पर्शन (त्वचा), रसन (जीभ), घ्राण (नाक), चक्षु (आँख) और श्रोत्र (कान)—ये पांच इन्द्रियाँ मानी गई हैं, अतः इन्द्रियों की अपेक्षा से संसारी आत्मा के पांच भेद हो जाते हैं—

1. एकेन्द्रिय आत्मा—जिनमें केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है, उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के होते हैं।

2. द्वीन्द्रिय आत्मा—जिनमें स्पर्शन और रसन—ये दो इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं। कृमि, लट, शंख आदि दो इन्द्रिय वाले जीव हैं।

3. त्रीन्द्रिय आत्मा—जिनमें स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। चींटी, मकोड़ा, जूँ, खटमल आदि तीन इन्द्रिय वाले जीव हैं।

4. चतुरेन्द्रिय आत्मा—जिनमें स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु—ये चार इन्द्रियां होती हैं, उन्हें चतुरेन्द्रिय जीव कहते हैं। मकड़ी, मच्छर, भौंरा, मधुमक्खी आदि चार इन्द्रिय वाले जीव हैं।

5. पंचेन्द्रिय आत्मा—जिनमें स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र—ये पांच इन्द्रियां होती हैं, उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। पशु, पक्षी, नारक, देव, मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीव हैं।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी संसारी प्राणी हैं। इनमें विकास के तारतम्य का आधार इन्द्रिय चेतना है अतः इन्द्रियों के आधार पर जीवों का यह वर्गीकरण किया गया है।

गति की अपेक्षा से आत्मा के भेद

गति की अपेक्षा से आत्मा के चार भेद हैं। गति शब्द का अर्थ है—चलना। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, पर यहां पर गति शब्द का प्रयोग एक जन्मस्थिति से दूसरी जन्मस्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा से है। जैसे मनुष्य अवस्था में स्थित जीव की गति मनुष्य गति है और वही जीव मृत्यु के बाद तिर्यच, नारक, देव जिस अवस्था को प्राप्त करता है, उसके आधार पर उसकी तिर्यच गति, नरक गति और देव गति कहलाती है। संसारी जीवों की मुख्य जन्म-स्थितियाँ चार हैं। उन्हें चार गति कहते हैं—नरक गति, तिर्यच गति, मनुष्य गति और देव गति।

1. नरक गति—नरक गति में रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं। इनका आवास स्थान अधोलोक में होता है। इनमें रहने वाले जीव बहुत अधिक कष्ट का अनुभव करते हैं। नरक गति में उन जीवों को जाना पड़ता है, जो अत्यधिक क्रूर कर्म और बुरे विचार वाले होते हैं।

2. तिर्यच गति—इस गति में रहने वाले जीव संख्या में सबसे अधिक हैं। एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीव निश्चित रूप से तिर्यच होते हैं, कुछ पंचेन्द्रिय जीव भी तिर्यच होते हैं,

जैसे—पशु-पक्षी आदि। इनके भी अनेक प्रकार हैं, जैसे—मछली आदि जल में रहने वाले जलचर पंचेन्द्रिय हैं। गाय, भैंस आदि भूमि पर रहने वाले स्थलचर पंचेन्द्रिय हैं। कबूतर, मोर आदि आकाश में उड़ने वाले खेचर पंचेन्द्रिय हैं।

3. मनुष्य गति—मनुष्य की अवस्था को प्राप्त करना मनुष्यगति है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—संज्ञी और असंज्ञी। जिन मनुष्यों के मन होता है, वे संज्ञी कहलाते हैं और जिनके मन नहीं होता, वे असंज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी मनुष्य गर्भ से उत्पन्न होते हैं और असंज्ञी मनुष्य मल-मूत्र, श्लेष्म आदि चौदह स्थानों में पैदा होते हैं। ये बहुत सूक्ष्म होते हैं अतः हमें दिखलाई नहीं देते हैं।

4. देव गति—जो जीव देव-योनि में पैदा होते हैं, उनकी देव गति है। देवता चार प्रकार के हैं—भवनपति देव, व्यन्तर देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देव हैं। भूत, पिशाच, यक्ष आदि व्यन्तर देव हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि ज्योतिष्क देव हैं तथा ऊर्ध्वलोक में विमानों में निवास करने वाले वैमानिक देव हैं।

1.7 अध्यात्म की अपेक्षा से आत्मा के भेद

अध्यात्म का विकास सभी आत्माओं में समान नहीं होता अतः अध्यात्म की अपेक्षा से भी आत्मा के तीन भेद किये गए हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

1. बहिरात्मा—सम्यक् दृष्टि के अभाव में जब व्यक्ति अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूलकर आत्मा से भिन्न शरीर, इन्द्रिय, मन, स्त्री, पुरुष, धन आदि बाह्य पदार्थों में आसक्ति रखता है, तब वह बहिरात्मा कहलाता है।

2. अन्तरात्मा—सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति होने पर जब व्यक्ति आत्मा और शरीर के भेद को समझने लगता है। बाह्य पदार्थों के

प्रति होने वाली आसक्ति को कम कर आत्मा के सच्चे स्वरूप को पाने के लिए उस ओर उन्मुख होता है तब वह अन्तरात्मा कहलाता है।

3. परमात्मा—जब व्यक्ति अपनी साधना के द्वारा समस्त कर्मों का नाश कर आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, तो उसे परमात्मा कहते हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन में जहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का विवेचन किया गया है, वहीं संसारी आत्मा के भेद-प्रभेदों का भी सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। जैन दर्शन के अनुसार हर आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है।

3. आत्मा की सिद्धि

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा अमूर्त है अतः वह इन्द्रियातीत पदार्थ है। आचारांग में आत्मा के स्वरूप को बताते हुए लिखा है—‘सर्वे सरा नियट्ठंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मइ तत्थ न गाहिया’—आत्मा का स्वरूप शब्दातीत एवं तर्कातीत है। वह बुद्धि का विषय भी नहीं बन सकती। वह न दीर्घ है, न ह्रस्व। न त्रिकोण है, न चतुष्कोण। न कृष्ण है, न शुक्ल। न स्त्री है और न पुरुष। आत्मा को किसी भी उपमा से नहीं बताया जा सकता, वह अरूपी सत्ता है। वह इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नहीं है। वह स्वानुभव का विषय है। अनुभव स्वसंवेद्य होता है, किंतु दूसरों को समझाने के लिए परोक्ष ज्ञान भी उपयोगी बनता है। इसलिए सूक्ष्म या स्थूल, मूर्त या अमूर्त किसी भी द्रव्य के अस्तित्व या नास्तित्व का समर्थन तर्क के द्वारा करने की परम्परा प्रचलित रही है। आत्मा के स्वसंवेद्य होने पर भी तर्क, प्रमाण आदि के द्वारा उसका त्रैकालिक अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास दार्शनिकों ने किया है। जब-जब अनात्मवादी दार्शनिकों ने आत्मा को नकारते हुए उसके नास्तित्व की सिद्धि के लिए हेतु प्रस्तुत

किये तब-तब प्रतिवादस्वरूप आत्मवादियों ने भी हेतु प्रस्तुत किये और प्रमाण के द्वारा उसका त्रैकालिक अस्तित्व सिद्ध किया।

प्रमाण द्वारा आत्मा की सिद्धि

आत्मवादी दार्शनिक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से उसे सिद्ध भी करते हैं।

1. प्रत्यक्ष प्रमाण

भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष चार प्रकार का माना गया है—

1. इन्द्रिय प्रत्यक्ष,
2. मानस प्रत्यक्ष,
3. योगज प्रत्यक्ष,
4. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष।

प्रथम दो प्रत्यक्ष आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं हैं। योगज प्रत्यक्ष अर्थात् योग साधना से होने वाला प्रत्यक्ष भी हमसे परोक्ष होने के कारण हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। चतुर्थ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—इस प्रकार का ज्ञान आत्मा के होने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष से आत्मा का ज्ञान न होने मात्र से आत्मा के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। इन्द्रिय से तो हम दो-तीन पीढ़ी पूर्व के पूर्वजों को भी नहीं जानते पर इतने मात्र से उनका अभाव नहीं हो जाता। हमारे न जानने पर भी पूर्वजों का अस्तित्व होता है। आत्मा अमूर्त है अतः वह इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। भगवान् महावीर ने कहा—‘नो इन्द्रियगेज्ज्ञ अमुत्तभावा’—अमूर्त पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। जिस प्रकार मूर्त पदार्थों में भी जो सूक्ष्म, दूरवर्ती एवं व्यवहित हैं उन्हें भी हमारी इन्द्रियाँ नहीं जानती पर फिर भी उनका अस्तित्व होता है। उसी प्रकार इन्द्रिय-ग्राह्य न होने पर भी आत्मा

का अस्तित्व अवश्य है। इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

2. अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण से भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। चैतन्य लिंग की उपलब्धि से आत्मा का अनुमान होता है। आत्मा गुणी (द्रव्य) है। चैतन्य उसका गुण है। चैतन्य गुण हमारे प्रत्यक्ष है किन्तु आत्मा जो गुणी है, वह परोक्ष है। परोक्ष गुणी की सत्ता प्रत्यक्ष गुण से प्रमाणित हो जाती है। जैसे—कमरे में बैठा हुआ आदमी सूर्य को नहीं देखता, फिर भी वह प्रकाश और धूप के द्वारा अदृष्ट सूर्य को जान लेता है। उसी प्रकार अदृष्ट आत्मा चैतन्य लिंग के द्वारा जान ली जाती है।

3. आगम प्रमाण

आगम में भी आत्मा को सिद्ध करने वाले अनेक सूत्र मिलते हैं। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया—‘सर्वे जीवावि इच्छन्ति जीविडं न मरिज्जिडं’ अर्थात् सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। ‘अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए’ अर्थात् पृथ्वी, अप, तैजस आदि छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानो।

तर्कशास्त्र का नियम है कि सत् सप्रतिपक्ष होता है। ‘यत्सत् तत्सप्रतिपक्षम्’—जो सत् है, वह सप्रतिपक्ष है। जिसके प्रतिपक्ष का अस्तित्व नहीं होता, उसके अस्तित्व को तार्किक समर्थन भी नहीं मिल सकता। यदि चेतन नामक सत्ता नहीं होती तो अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध भी नहीं होता। इस प्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को सिद्ध करने वाले और भी अनेक हेतु उपलब्ध होते हैं—

4. पुनर्जन्म का सद्भाव

आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व का एक हेतु है—पुनर्जन्म का सद्भाव। राग और द्वेष—ये दो कर्मबीज हैं, जिनके कारण आत्मा बार-बार इस संसार में परिभ्रमण करती रहती है, उसका बार-बार जन्म-मरण होता रहता है। पुनर्जन्म का सद्भाव शरीर के प्रति होने वाले चैतसिक आग्रह से भी सिद्ध होता है। नवजात शिशु में भी अपने शरीर के प्रति विशेष प्रकार का लगाव होता है। उसकी हर्ष, भय, शोक, मां का स्तनपान आदि क्रियाएँ पुनर्जन्म के सिद्धान्त को सिद्ध करती हैं, क्योंकि उसने इस जन्म में तो हर्षादि का अनुभव किया ही नहीं है। ये क्रियाएँ पूर्वाभ्यास से ही संभव हैं। अतः इससे पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। पुनर्जन्म की अवधारणा से आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की सिद्धि होती है।

5. जन्मजात विलक्षण प्रतिभा

जन्मजात विलक्षण प्रतिभा से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का गुण माना गया है। मरने के बाद भी ज्ञान एक जन्म से दूसरे जन्म में साथ जाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि कुछ बच्चे जन्म से ही बहुत प्रतिभा सम्पन्न होते हैं, तो कुछ बच्चे मंदबुद्धि वाले या अज्ञानी। इसका कारण भी उसका पूर्वजन्म में किया गया ज्ञान का अभ्यास या अनभ्यास ही है।

6. शरीर का अधिष्ठाता

शरीर के अधिष्ठाता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करते हुए कहा जाता है कि जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, वे प्रयत्नपूर्वक होती हैं। उदाहरणार्थ रथ के चलने की क्रिया सारथी के प्रयत्न से होती है, उसी प्रकार शरीर के संचालन की क्रिया, जिसके प्रयत्न से होती है, वही आत्मा है।

7. संकलनात्मक ज्ञान

प्रत्येक इन्द्रिय का अपना-अपना निश्चित विषय होता है। एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के विषय को नहीं जानती। 'मैं स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श को जानता हूँ' इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान किसी भी एक इन्द्रिय के द्वारा होना संभव नहीं है। यह संकलनात्मक ज्ञान जिसे होता है, वह आत्मा है।

8. कर्ता और भोक्ता

जिस प्रकार हर क्रिया का कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होता है, उसी प्रकार देखने, सुनने, पढ़ने आदि की क्रिया का कर्ता आत्मा है। जिस प्रकार भोजन, वस्त्र आदि का कोई भोक्ता अवश्य होता है, उसी प्रकार शरीर का भी कोई भोक्ता होना चाहिए और वह भोक्ता आत्मा ही हो सकता है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने अनेक तर्कों के माध्यम से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया है।

4. आत्मा का परिमाण

आत्मा का परिमाण (size) क्या है। इस सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते हैं, जिनमें तीन मत विशेष प्रचलित हैं—

1. आत्मा अणु परिमाण वाला है।
2. आत्मा सर्वव्यापी है।
3. आत्मा शरीर परिमाण है।

1. आत्मा का अणु परिमाण

रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, वल्लभाचार्य आदि आत्मा को अणु परिमाण वाला मानते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को अंतर

हृदय में चावल या जौ के दाने जितना बताया गया है। आचार्य रामानुज के अनुसार अणु परिमाण वाली आत्मा अपने ज्ञान गुण के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में होने वाली सुख-दुःख आदि संवेदन रूप क्रिया का अनुभव करती है। जिस प्रकार दीपक की लौ छोटी होते हुए भी स्व-पर समस्त पदार्थों को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार आत्मा अणुरूप होते हुए भी ज्ञान गुण के द्वारा शरीर में होने वाली समस्त क्रियाओं को जान लेती है। अतः आत्मा अणुरूप है।

2. आत्मा का विभु (सर्वव्यापी) परिमाण

अद्वैत वेदान्त, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग आदि दार्शनिक आत्मा को आकाश की भांति सर्वव्यापक मानते हैं। उनका मानना है यदि आत्मा को सर्वव्यापक नहीं मानेंगे तो परमाणु जो कि पूरे आकाश में फैले हुए हैं, उन परमाणुओं के साथ आत्मा का संयोग न हो सकने के कारण शरीर का ही निर्माण नहीं हो सकेगा और शरीर के अभाव में संसार का ही अभाव हो जायेगा। दूसरी बात आत्मा को शरीर परिमाण मानने पर शरीर के नाश के साथ ही आत्मा के नाश होने का प्रसंग भी उपस्थित हो जायेगा। आत्मा आकाश की तरह एक अमूर्त द्रव्य है। आकाश सर्वव्यापी है अतः आत्मा भी आकाश की तरह सर्वव्यापी है।

3. आत्मा का शरीर परिमाण

जैन दर्शन आत्मा को अणु अथवा सर्वव्यापी न मानकर मध्यम परिमाण अर्थात् शरीर परिमाण स्वीकार करता है। उनके अनुसार यदि आत्मा को अणु परिमाण माना जायेगा तो शरीर के जिस भाग में आत्मा रहेगी, उसी भाग में होने वाली सुख-दुःख आदि संवेदना का वह अनुभव कर सकेगी। सम्पूर्ण शरीर में होने वाली संवेदनाओं का उसे अनुभव नहीं हो सकेगा, इसलिए आत्मा को अणुरूप मानना ठीक नहीं है।

इसी प्रकार यदि आत्मा को सर्वव्यापी माना जायेगा तो सभी आत्माओं का परस्पर मिश्रण होने से संकर दोष की आपत्ति आयेगी तथा आत्मा का पुनर्जन्म भी असंभव हो जायेगा क्योंकि आत्मा तो सभी जगह पहले से व्याप्त है अतः उसका पुनर्जन्म कहाँ होगा। आकाश की तरह अमूर्त होने से आत्मा को व्यापक मानना भी उचित नहीं क्योंकि न्याय-वैशेषिक मत में मन को भी अमूर्त माना गया है पर उसे व्यापक नहीं माना गया है। अतः आत्मा को अणु अथवा सर्वव्यापी न मानकर शरीर परिमाण मानना चाहिए। आत्मा को शरीर परिमाण कहने का तात्पर्य है कि आत्मा को अपने संचित कर्म के अनुसार जितना छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, उस पूरे शरीर में व्याप्त होकर वह रहता है। शरीर का कोई भी अंश ऐसा नहीं होता, जहाँ आत्मा न हो। इसका कारण जीव में संकोच-विकोच करने की शक्ति है।

सभी आत्माएँ असंख्येय प्रदेशी हैं परन्तु आत्मा में संकोच-विकोच की शक्ति होने के कारण प्रदेश समान होते हुए भी वे कर्मार्जित शरीर में व्याप्त होकर अर्थात् छोटा शरीर मिलने पर अपने आत्म-प्रदेशों का संकोच कर लेती हैं और यदि शरीर बड़ा होता है तो अपने आत्म-प्रदेशों को फैलाकर उसमें व्याप्त हो जाती हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में भी यही लिखा है—

असंख्येय भागादिषु जीवानाम्।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।

जिस प्रकार दीपक को छोटे कमरे में रखने से वह उस छोटे कमरे को प्रकाशित करता है और बड़े कमरे में रखने से वह बड़े कमरे को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण शरीर में रहता हुआ सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है।

आत्मा के शरीर परिमाण की सिद्धि

जैन दार्शनिकों ने आत्मा को शरीर परिमाण सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क भी दिये हैं—

1. गुण गुणी की अभिन्नता से

आत्मा को शरीर परिमाण सिद्ध करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

यत्रैव यो दृष्ट गुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतद्।
तथापि देहात् बहिरात्मतत्त्वमतत्त्ववादोपहता पतन्ति॥

आत्मा शरीर-परिमाण वाला है, क्योंकि उसके ज्ञानादि गुण शरीर में ही दृष्टिगोचर होते हैं, शरीर के बाहर नहीं। जिस वस्तु के गुण जहाँ उपलब्ध नहीं होते, वह वस्तु, वहाँ नहीं होती, उदाहरणार्थ—अग्नि के गुण जल में नहीं होते इसलिए अग्नि जल में नहीं होती। उसी प्रकार शरीर के बाहर आत्मा की उपलब्धि नहीं होती।

2. सुख-दुःख की संवेदना शरीर में होने से

आत्मा को शरीर परिमाण मानने का एक कारण यह भी है कि शरीर के किसी भी भाग में होने वाली वेदना की अनुभूति आत्मा को होती है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार की अनुभूति शरीर में ही दृष्टिगोचर होती है अतः सुख-दुःख का प्रभाव शरीर के साथ आत्मा पर पड़ने से यह सिद्ध है कि आत्मा शरीर परिमाण है।

3. संकोच-विकोच शक्ति के कारण

आत्मा को शरीर परिमाण मानने का कारण उसमें प्राप्त संकोच और विस्तार की शक्ति भी है। प्रश्न पूछा गया—असंख्येय प्रदेश वाले अनन्तानन्त जीव लोक के असंख्यातवें भाग में किस प्रकार रहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया कि आत्मा में दीपक की तरह

संकोच और विस्तार की शक्ति पाई जाती है। जिस प्रकार एक दीपक को रोशनदान से रहित चारों ओर से बंद कमरे में रख दिया जाये तो वह केवल उस कमरे को प्रकाशित करता है और उस दीपक पर यदि एक बर्तन रख दिया जाये तो उसका प्रकाश उसमें सिमट जाता है और यदि कमरे के दरवाजे और खिड़कियां खोल दी जायें तो उसका प्रकाश कमरे से बाहर भी फैल जाता है। उसी प्रकार आत्मा छोटे-बड़े शरीर के आधार पर अपना संकोच और विस्तार कर लेती है।

आत्मा अपने कर्म के अनुसार जब हाथी के शरीर को छोड़कर चींटी के शरीर में प्रवेश करती है तो अपने आत्म-प्रदेशों को संकुचित कर लेती है और जब चींटी का शरीर मरकर हाथी के शरीर में प्रवेश पाता है तो जल में तेल की बूंद की तरह फैलकर वह हाथी के शरीर में व्याप्त हो जाती है।

यदि शरीर के अनुसार आत्मा संकोच-विस्तार न करे तो फिर बचपन की आत्मा दूसरी तथा युवावस्था की आत्मा दूसरी माननी पड़ेगी, जिससे बचपन की स्मृति युवावस्था में नहीं हो सकेगी अतः मानना होगा कि आत्मा शरीर परिमाण है।

4. अनुमान से शरीर परिमाण की सिद्धि

अनुमान प्रमाण से भी आत्मा को शरीर परिमाण सिद्ध किया गया है—आत्मा व्यापको न भवति चेतनत्वात् यत्तु व्यापकं न तत् चेतनम् यथा व्योमः चेतनश्चात्मा तस्माद् न व्यापकः। अव्यापकत्वे चास्य तत्रैवोपलभ्यमानगुणत्वेन सिद्धं काय प्रमाणता।

आत्मा व्यापक नहीं होती, क्योंकि वह चेतन है। जो व्यापक होता है, वह चेतन नहीं होता, जैसे—आकाश। आत्मा चेतन है अतः वह व्यापक नहीं है। आत्मा के गुण शरीर में ही उपलब्ध होने पर वह शरीर परिमाण है, यह सिद्ध होता है।

आत्मा कथंचित् सर्वव्यापी है—

जैन दर्शन में आत्मा को कथंचित् सर्वव्यापी माना गया है। आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानने से ज्ञेय प्रमाण है तथा ज्ञेय समस्त लोकालोक है। इसलिए ज्ञान सर्वगत है। ज्ञान के सर्वगत (व्यापक) सिद्ध होने से आत्मा की सर्वव्यापकता सिद्ध होती है। प्रवचनसार में कहा है—

आदा णाण पमाणं णाणं ज्ञेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

ज्ञेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगयं॥

कर्ममल रहित केवली भगवान् अपने अव्याबाध केवलज्ञान से लोक और अलोक को जानते हैं। इसलिए वे सर्वज्ञ हैं।

केवली समुद्घात की अपेक्षा आत्मा का आकार

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने गोम्मटसार जीवकाण्ड में समुद्घात के स्वरूप विवेचन में कहा है कि मूल शरीर को त्यागे बिना उत्तर शरीर अर्थात् तैजस और कार्मण शरीर के साथ आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। समुद्घात के सात भेदों में केवली समुद्घात भी एक भेद है। केवली समुद्घात के समय आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक में व्याप्त होते हैं।

इस प्रकार केवली समुद्घात की अपेक्षा आत्मा व्यापक भी है लेकिन वह कभी-कभी होता है इसलिए आत्मा को कथंचित् व्यापक मानना ही संभव है, सर्वथा नहीं।

जैन दार्शनिकों ने शरीर परिमाण और व्यापकता का समन्वय अनेकान्तात्मकता की दृष्टि से किया है। यहां केवलज्ञान की दृष्टि से आत्मा को व्यापक तथा आत्म-प्रदेशों की दृष्टि से अव्यापक माना गया है, जैसा कि कहा गया है—केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे ज्ञानापेक्षया व्यवहार नयेन लोकालोक व्यापकः न च प्रदेशापेक्षया।

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि आत्मा को अणु परिमाण मानने से शरीर में होने वाली सुख-दुःख की संवेदना न हो पाने से अणु परिमाण मानना उचित नहीं तथा आत्मा को व्यापक मानने से परलोक का ही अभाव हो जाने के कारण आत्मा को सर्वव्यापक मानना भी उचित नहीं।

आत्मा के गुण शरीर में ही पाये जाते हैं अतः आत्मा को शरीर-परिमाण मानना ही उचित है।

5. आत्मा-शरीर संबंध

विश्व व्यवस्था के सन्दर्भ में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं—द्वैतवादी और अद्वैतवादी। अद्वैतवादियों ने एक तत्त्व के आधार पर विश्व की व्याख्या की और द्वैतवादियों ने इसे दो तत्त्वों का विस्तार माना। अद्वैतवादियों में भी दो मत प्रसिद्ध हैं—चैतन्याद्वैतवाद और जड़द्वैतवाद, जो कि क्रमशः केवल चेतन और केवल जड़ तत्त्वों से सृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास को स्वीकार करते हैं।

द्वैतवादियों के अनुसार यह जगत् केवल जड़ या केवल चेतन का विस्तार नहीं अपितु दोनों के संयोग और वियोग से इसकी उत्पत्ति और विनाश होता है।

अद्वैतवादियों के सामने यह समस्या नहीं थी कि चेतन और जड़ का संबंध कैसे हुआ लेकिन द्वैतवादी के सामने यह समस्या खड़ी हो गई कि दो विसदृश पदार्थों का पारस्परिक संबंध कैसे संभव है?

भारतीय दर्शन में संबंध की चर्चा

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग आदि द्वैतवादी दर्शन हैं। सांख्य दर्शन ने प्रकृति और पुरुष—इन दो विरोधी तत्त्वों को स्वीकार किया किन्तु पुरुष को निष्क्रिय, अकर्ता, अमूर्त मानकर विकास का सारा भार जड़ प्रकृति पर लाद दिया, जिसके कारण वह दर्शन जगत् में आलोचना का पात्र बना।

न्याय-वैशेषिक भी द्वैतवादी हैं। उनके अनुसार परमाणु और चेतन दो भिन्न तत्त्व हैं और ये ही सृष्टि के उपादान कारण हैं। इनका संबंध ईश्वरीय शक्ति के द्वारा होता है।

पाश्चात्य दर्शन में संबंध की चर्चा

भारतीय दार्शनिकों की तरह यह समस्या पाश्चात्य विचारकों के सामने भी रही। किसी ने अद्वैत मानकर संबंध की समस्या से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया तो किसी ने द्वैतवाद को स्वीकृति देकर चेतन और जड़ के बीच संबंध खोजने का प्रयत्न किया।

रेन डेकार्ट आत्मा और शरीर को सर्वथा भिन्न स्वीकार करता है। उसके अनुसार—

The soul or mind of a man is entirely different from body.

दोनों में विरोध होते हुए भी उसने इनका संबंध सेतु पीनियल ग्लैण्ड को माना। यह ग्रंथि मन और शरीर का मिलन बिन्दु है। इसके सहारे मन में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव शरीर में पड़ता है और शरीर में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रभाव मन पर पड़ता है।

स्पिनोजा आत्मा और शरीर को एक ही द्रव्य के दो पहलु के रूप में स्वीकार करता है और इनमें संबंध कराने वाला ईश्वर को मानता है।

लाइबनीत्स पूर्वस्थापित सामंजस्य (pre-established harmony) के द्वारा शरीर और आत्मा के सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार शरीर और आत्मा में सम्बन्ध का कारण ईश्वर है। ईश्वर ने शरीर-चिदणु और आत्मा-चिदणु का निर्माण कर उनमें पहले से ही सम्बन्ध नियत कर दिया है। दोनों स्वतन्त्र हैं, निरपेक्ष हैं परन्तु सहचारी हैं तथा एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

भारतीय व पाश्चात्य जगत् की भांति मनोविज्ञान में भी यह समस्या बनी हुई है कि आत्मा और शरीर का संबंध क्या है? कौन किसे प्रभावित करता है?

जैन दर्शन में आत्मा और शरीर संबंध

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। विश्व व्यवस्था के संदर्भ में जड़ और चेतन दोनों की सत्ता को स्वीकार करता है। प्रश्न होता है कि जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और शरीर दोनों निरपेक्ष दो स्वतंत्र सत्ताएँ हैं या इनमें परस्पर कोई संबंध भी है। यदि संबंध है तो संबंध का कारण क्या है? आत्मा शरीर को प्रभावित करता है या शरीर आत्मा को प्रभावित करता है।

दूसरी बात जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और शरीर दोनों सर्वथा विरोधी हैं तो इनका संबंध स्वतः होता है या इनका संबंध करवाने के लिए किसी तीसरे तत्त्व समवाय या ईश्वर की अपेक्षा होती है, जैसा कि अन्य दार्शनिक मानते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और शरीर की सर्वथा निरपेक्ष सत्ता स्वीकार कर इनमें परस्पर संबंध तथा पारस्परिक प्रभाव की व्याख्या नहीं की जा सकती अपितु सापेक्ष स्वीकार करके ही संबंध तथा प्रभाव की व्याख्या की जा सकती है।

आत्मा और शरीर के संबंध में उठने वाली समस्त जिज्ञासाओं का समाधान देते हुए जैन दार्शनिकों ने कहा कि सर्वथा अमूर्त आत्मा के साथ शरीर का संबंध नहीं हो सकता अतः उन्होंने आत्मा को दो भागों में बांट दिया—

1. सिद्ध आत्मा,
2. संसारी आत्मा।

सिद्धात्मा सर्वथा अमूर्त होती है अतः उसका शरीर के साथ संबंध नहीं होता किन्तु संसारी आत्मा संसारी अवस्था में कथंचित् मूर्त

होने के कारण संसारी आत्मा के साथ शरीर का संबंध असंभव नहीं है।

कुछ शंकाकार यह शंका करते हैं कि आत्मा अमूर्त तथा शरीर मूर्त है अतः अमूर्त का मूर्त में प्रवेश कैसे होगा? जैन दर्शन के अनुसार यह शंका निराधार है। संसारी अवस्था में आत्मा सूक्ष्म और स्थूल शरीर से युक्त रहती है। मृत्यु के समय स्थूल शरीर छूट जाता है पर सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। यही सूक्ष्म शरीर बार-बार जन्म धारण करता रहता है अतः सूक्ष्म शरीर से युक्त होने के कारण अमूर्त का मूर्त में प्रवेश कैसे होगा यह शंका ही निराधार है।

आत्मा और शरीर का संबंध सेतु

आत्मा और शरीर का मुख्य संबंध सेतु आश्रव है। आश्रव कर्मों के आने का द्वार है। जब तक यह द्वार खुला रहता है तब तक आत्मा और शरीर का संबंध बना रहता है।

कर्म बंधन का मूल कारण राग और द्वेष है, जैसा कि कहा भी गया है—

स्नेहाभ्यक्त शरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा।

गात्रं रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं।।

जिस प्रकार शरीर पर चिकनाई होती है तो रज कण उस पर चिपक जाते हैं और वह मैल रूप में परिणत हो जाता है। उसी प्रकार जीव में राग-द्वेष रूपी चिकनाई है और कर्मरज सर्वत्र फैली हुई है, अतः वे आत्मा के साथ चिपककर कर्म रूप में परिणत हो जाती हैं। सिद्धों में राग-द्वेष नहीं है अतः उनके कर्मबंधन न होने के कारण शरीर का अभाव होता है।

संसारी अवस्था में शरीर के बिना आत्मा की व्याख्या ही नहीं की जा सकती। अतः आत्मा और शरीर के संबंध का मुख्य सेतु कर्म और आश्रव है।

भगवती सूत्र में संबंध सूत्रों की चर्चा

अद्वैतवादियों के सामने संबंध सूत्र की समस्या नहीं थी, क्योंकि वे एक ही तत्त्व को स्वीकार करते थे। पर द्वैतवादियों के सामने संबंध सूत्र की प्रमुख समस्या थी। भगवती सूत्र में गौतम भगवान महावीर से पूछते हैं—भंते! आत्मा और शरीर सर्वथा भिन्न हैं। एक जड़ है, दूसरा चेतन। चेतन कभी अचेतन नहीं बनता और अचेतन कभी चेतन नहीं बनता अतः इनमें परस्पर संबंध होता है क्या? भगवान ने समाधान देते हुए कहा—अत्थि णं भंते! जीवा य पोग्गलाय अण्णमण्णबद्धा अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णमोगाढा अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिंदंति। हंता अत्थि।

आत्मा और शरीर में परस्पर सम्बन्ध होता है। भगवती सूत्र में आत्मा और शरीर के संबंध सूत्रों को विवेचित करते हुए कहा गया—जीव और पुद्गल (शरीर) एक-दूसरे से बंधे हुए हैं, एक-दूसरे को छू रहे हैं, एक-दूसरे का अवगाहन कर रहे हैं, एक-दूसरे के आधार पर ठहरे हुए हैं, परस्पर स्नेह से प्रतिबद्ध हैं। सूत्र में आए हुए ओगाढा (अवगाढ), सिणेह (स्नेह) और घडत्ताए (आधार)—इन तीन शब्दों को समझना आवश्यक है।

1. ओगाढा (अवगाढ)

सूत्र में आया हुआ अवगाढ शब्द अवगाहन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अवगाढ का एक अर्थ है—परस्परेण लोलीभावं गता—जीव और शरीर में लोलीभाव संबंध है। लोलीभाव संबंध में दो पदार्थ एकमेक हो जाते हैं। जैसे—लोहे को अग्नि में गरम करने पर उसका रंग लाल हो जाता है। उस अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि यह लोहा है और यह अग्नि है। दोनों एक-दूसरे में अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार आत्मा और शरीर अनुप्रविष्ट हैं।

2. सिणेह (स्नेह)

सूत्र में आए हुए सिणेह-स्नेह शब्द का टीकाकार ने अर्थ किया है—‘स्नेह प्रतिबद्धारागादिरूपः स्नेहः’ परन्तु यह अर्थ संगत प्रतीत नहीं होता। जीव में राग होता है किन्तु पुद्गल में राग नहीं होता। अतः जीव और शरीर के संबंध का जो कारण बताया गया है, वह यह है कि जीव में घनात्मक शक्ति है और अजीव में ऋणात्मक शक्ति है। इन दोनों में संबंध स्थापित करने की योग्यता स्नेह है।

3. घडत्ताए (आधार)

घडत्ताए का एक अर्थ है—आधार। जीव और शरीर के संबंध में गौतम द्वारा पूछे गए प्रश्नों को समाहित करने के लिए भगवान ने एक सुन्दर उपमा को प्रस्तुत किया।

जैसे एक तालाब पानी से पूरा भरा हुआ है, उसमें जल समा नहीं रहा है। पानी के उस अथाह प्रवाह में एक व्यक्ति ने अपनी नौका को खड़ा किया। वह नौका सैकड़ों छिद्र वाली है। आश्रव और छिद्र पर्यायवाची हैं। छेदों में पानी प्रविष्ट होता है और धीरे-धीरे पूरी नौका पानी से भर जाती है। इस दृष्टान्त को स्पष्ट करते हुए भगवान महावीर ने कहा—जीव में छिद्र है—आश्रव। पुद्गल की प्रकृति है छिद्र में भर जाना। कर्म पुद्गल सर्वत्र फैले हुए हैं तथा वे आश्रव द्वार से निरन्तर प्रविष्ट होते रहते हैं और आत्मा तथा शरीर के संबंध को बनाये रखते हैं।

संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर दूध और पानी की तरह आपस में मिले हुए हैं। इन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

आत्मा और शरीर का संबंध कब हुआ

आत्मा और शरीर का संबंध कब हुआ, इस सन्दर्भ में सभी भारतीय दार्शनिकों ने चिंतन किया है।

आचार्य शंकर ने ब्रह्म और माया का संबंध अनादि माना। सांख्य मत में प्रकृति और पुरुष का तथा बौद्ध दर्शन में नाम और रूप का संबंध अनादि माना गया है।

जैन दर्शन भी आत्मा और शरीर के संबंध को अनादि मानता है। इनमें पौर्वापर्य (पहले और पीछे का) संबंध न होकर अपश्चानुपूर्वी संबंध है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहते हैं, जहाँ पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता। जीव और शरीर का संबंध अनादि काल से चला आ रहा है।

भगवती सूत्र में प्रश्न पूछा गया कि मुर्गी अण्डे से पैदा होती है या अण्डा मुर्गी से। जिस प्रकार मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं बताया जा सकता, वैसे ही जीव और पुद्गल के संबंध में पौर्वापर्य नहीं बताया जा सकता।

यदि कर्मों से पहले आत्मा को माने तो शुद्ध आत्मा में कर्म लगने का कोई कारण ही नहीं बनता और यदि कर्म को आत्मा से पहले माने तो आत्मा के बिना कर्म करेगा कौन? अतः आत्मा और शरीर के संबंध को अपश्चानुपूर्वी मानना ही समीचीन है।

आत्मा और शरीर का संबंध अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है। इसका अन्त (वियोग) हो सकता है।

जिस प्रकार कोल्हू आदि के द्वारा तेल खल-रहित होता है, मंथनी आदि के द्वारा घी-छाछ रहित होता है, उसी प्रकार विशेष तपस्या और निर्जरा के द्वारा आत्मा और शरीर के इस संबंध को समाप्त किया जा सकता है।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि आत्मा और शरीर का मुख्य संबंध सेतु आश्रय है। यह संबंध किसी एक की ओर से नहीं होता अपितु आत्मा और शरीर दोनों की तरफ से होता

है। जीव में स्नेह है—आश्रव और पुद्गल में स्नेह है—आकर्षण होने की योग्यता। इसकी जानकारी सूत्र में आये हुए सिणेहपडिबद्धा शब्द से मिलती है।

इस प्रकार जैन दर्शन में आत्मा और शरीर के संबंध में किसी प्रकार की समस्या नहीं आती, जैसी कि अन्य दर्शनों में आती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा कथंचित् मूर्त है और मूर्त का मूर्त के साथ संबंध हो सकता है। शरीर और चेतना को सर्वथा स्वतन्त्र स्वीकार कर उसकी व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु सापेक्ष स्वतन्त्र स्वीकार कर हम उनके सम्बन्ध और पारस्परिक प्रभाव की व्याख्या कर सकते हैं।

6. पुनर्जन्मवाद

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। वह आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार करता है। आत्मा अतीत में थी, वर्तमान में है और भविष्य में होगी। जिसका अतीत और भविष्य नहीं होता, उसका वर्तमान भी नहीं होता। वर्तमान में हमें आत्मा का अनुभव होता है अतः आत्मा का अतीत भी था और भविष्य भी होगा। वर्तमान जीवन हमारे प्रत्यक्ष है किन्तु इस जन्म से पूर्व अतीत में आत्मा क्या थी और मृत्यु के बाद आत्मा कहाँ जाएगी, हमें ज्ञात नहीं है। आत्मा की त्रैकालिक सत्ता की स्वीकृति पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्वीकृति है। आत्मा है, आत्मा शाश्वत है और कर्म है—ये तीनों पुनर्जन्म को प्रमाणित करते हैं। कर्मयुक्त आत्मा के आधार पर ही पुनर्जन्मवाद की स्थापना संभव है। जब तक आत्मा कर्मों से मुक्त होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं होती तब तक पुनर्जन्म की परम्परा चलती रहती है।

दार्शनिक जगत् में आत्मा और पुनर्जन्म के संबंध में कुछ मान्यताएँ प्रचलित हैं—

1. पहली मान्यता के अनुसार आत्मा है पर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। ईसाई एवं इस्लाम धर्मानुयायी ऐसा मानते हैं।

2. दूसरी मान्यता के अनुसार आत्मा नहीं है पर पुनर्जन्म है। बौद्ध दर्शन अनात्मवादी होने के कारण आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते किन्तु चित्त-संतति के आधार पर पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं।

3. तीसरी मान्यता के अनुसार आत्मा एवं पुनर्जन्म दोनों नहीं हैं। ऐसी मान्यता चार्वाक दर्शन की है। वे आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते।

4. चौथी मान्यता के अनुसार आत्मा एवं पुनर्जन्म दोनों ही हैं। चार्वाक को छोड़कर प्रायः सभी आस्तिक दर्शन दोनों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। आत्मा का जब तक कर्म के साथ संबंध है, तब तक जन्म और मृत्यु का प्रवाह चिरन्तन है।

पुनर्जन्म का अर्थ

सभी भारतीय चिंतक इस बात से सहमत हैं कि अपने किये गए शुभ-अशुभ कर्मों का फल समस्त प्राणियों को भोगना ही पड़ता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल इसी जन्म में मिल जाता है और कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल इसी जन्म में नहीं मिल पाता। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता, उनको भोगने के लिए कर्मयुक्त जीव पूर्ववर्ती स्थूल शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है। इस प्रकार पूर्व शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है। पुनर्जन्म को पर्याय बदलना, पुनर्भव, जन्मान्तर, प्रेत्यभाव, परलोक आदि भी कहते हैं।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया में आत्मा का नाश नहीं होता, स्थूल शरीर का नाश होता है। जिस प्रकार मनुष्य फटे-पुराने कपड़े को छोड़कर

नये वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी पुराने शरीर को छोड़कर नवीन शरीर धारण कर लेता है। यही आत्मा का पुनर्जन्म कहलाता है। प्लेटो के शब्दों में—“The soul always wears her garments a new. The soul has a natural strength which will hold out and be born many times”.

पुनर्जन्म का कारण

जैन दर्शन में पुनर्जन्म का मूल कारण कर्म को माना गया है। भगवान महावीर ने कहा—‘रागो य दोषो बिय कम्मबीयं, कम्मं च जाईमरणस्स मूलं’ अर्थात् राग और द्वेष कर्म के बीज हैं तथा कर्म जन्म-मरण का मूल कारण है। कर्मयुक्त आत्मा के ही पुनर्जन्म हो सकता है। अकर्मा आत्मा जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होती है। दसवैकालिक सूत्र में बताया गया—अनिगृहीत क्रोध और मान तथा प्रवर्धमान माया और लोभ—ये चारों कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करते हैं। आचारांग सूत्र में कहा गया—‘माई पमाई पुणरेइ गब्भं’ अर्थात् माया और प्रमाद बार-बार जन्म-मरण के कारण बनते हैं। पुनर्जन्म का एक महत्त्वपूर्ण कारण मूर्च्छा या आसक्ति को माना गया है। जिस प्रकार महामेघ से सिंचित होकर बीज अंकुरित हो जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छाभाव का अत्यधिक सिंचन पाकर जीव बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। इस प्रकार राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रमाद आदि पुनर्जन्म के कारण बनते हैं।

जैन दर्शन में कहा गया—‘कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि’ अर्थात् कृत कर्मों का फल भोगे बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता। जब तक कर्मों का आगमन चालू है, तब तक कर्मफल भोगने के लिए बार-बार पुनर्जन्म होता रहता है। आचारांग सूत्र में उल्लेख मिलता है—‘से असई उच्चागोए असई नीआगोए’ अर्थात् प्रत्येक आत्मा

अपने कर्मानुसार अनेक बार उच्चकुल और नीचकुल में जन्म-मरण कर चुकी है।

आत्मा और पुनर्जन्म का अस्तित्व स्वीकार करने के बाद भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाते हैं, जैसे—पुनर्जन्म का घटक तत्त्व या कारक तत्त्व क्या है? मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में आत्मा अकेली जाती है या अन्य तत्त्व भी साथ जाते हैं। वह कैसे जाती है? उसे नया जन्म लेने में कितना समय लगता है आदि। भगवतीसूत्र में इन सबका विस्तार से समाधान दिया गया है। पुनर्जन्म का घटक तत्त्व है—शरीर। शरीर है इसीलिए पुनर्जन्म होता है। यदि शरीर न हो तो पुनर्जन्म भी नहीं होगा। वास्तव में पुनर्जन्म का कारण कर्मण शरीर या सूक्ष्म शरीर बनता है।

आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाती है तब वह दो शरीर—कर्मण शरीर और तैजस शरीर को साथ लेकर जाती है। क्योंकि जिस प्रकार ऊर्जा के बिना पाइप पानी नहीं खींच सकता, ठीक उसी प्रकार तैजस् शरीर के बिना जीव गति नहीं कर सकता और कर्मण शरीर के बिना गति की दिशा का निर्धारण नहीं कर सकता।

जीव एक जन्म से दूसरे जन्म में जाते समय जो गति करते हैं, उसे अन्तराल गति कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है—ऋजुगति और वक्रगति। जन्म स्थान समश्रेणी में होने पर वह ऋजुगति से जाता है और इसमें उसे 'एक समय' लगता है। मृत्यु होते ही एक समय में वह ऋजुगति से जहां जन्म लेना है, वहां जन्म ले लेता है। जन्म स्थान विषमश्रेणी में होने पर वह वक्रगति से जाता है और इसमें उसे दो से चार समय तक का कालमान लग सकता है।

पूर्वजन्म की स्मृति के हेतु

भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में पूर्वजन्म को जानने के तीन हेतु बताये हैं—

1. स्वस्मृति—स्वयं अपने आप-अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो जाने को स्वस्मृति कहते हैं। बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिन्हें अपनी बाल्यावस्था में अपने पूर्वजन्म का ज्ञान होता है। प्रो. स्टीवेंसन ने इस विषय पर अनुसंधान किया और पाया कि जिन बच्चों को अपने पूर्वजन्म की स्मृति थी, उन्होंने जो कुछ अपने पूर्वजन्म के विषय में बताया, अनुसंधान करने पर वह सच पाया गया।

2. परव्याकरण—यह पूर्वजन्म की स्मृति का दूसरा हेतु है। 'पर' शब्द उत्कृष्टता और श्रेष्ठता का सूचक है। धर्म के क्षेत्र में आप्तपुरुष, तीर्थंकर श्रेष्ठ माने जाते हैं। तीर्थंकर अपने केवलज्ञान से सब कुछ जानते हैं। उनसे पूछकर व्यक्ति अपने पूर्वजन्म को जान सकता है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भगवन्! मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है तो महावीर ने बताया—इसका कारण तुम्हारा मेरे प्रति अनुराग है। तुम्हारा और मेरा संबंध अनेक जन्मों का है। तुम मेरे चिरपरिचित हो। महावीर की वाणी को सुनकर गौतम को अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो गई।

3. अन्य के पास श्रवण—दूसरों के पास सुनकर भी व्यक्ति अपने पूर्वजन्म की स्मृति कर सकता है। यहां दूसरों से तात्पर्य तीर्थंकर के अतिरिक्त सभी ज्ञानी पुरुषों से है। वे अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी आदि कोई भी हो सकते हैं। विशिष्ट ज्ञानी के द्वारा निरूपित तथ्य को सुनकर किसी को अपने पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त मोहनीय कर्म का उपशम, लेश्या (भावधारा) की विशुद्धि, अतीत के चिन्तन में होने वाली एकाग्रता भी पूर्वजन्म को जानने के कारण बनते हैं।

विज्ञान के संदर्भ में पुनर्जन्म

विज्ञान में पदार्थ की ठोस, द्रव, गैस और प्लाज्मा—ये चार

अवस्थाएँ मानी गई हैं। 1944 में एक पांचवीं अवस्था की खोज की गई, जिसे जैव-प्लाज्मा अथवा प्रोटोप्लाज्मा कहते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार प्रोटोप्लाज्मा शरीर की कोशिकाओं में रहता है। मरने के बाद यह तत्त्व शरीर से अलग हो जाता है और वही तत्त्व जीन में परिवर्तित हो जाता है। यह प्रोटोप्लाज्मा ही बच्चे के रूप में जन्म ले लेता है। जैन दर्शन के अनुसार इस प्रोटोप्लाज्मा की तुलना प्राण और सूक्ष्म शरीर से की जा सकती है। सूक्ष्म शरीर के कारण ही आत्मा पुनर्जन्म लेती है। व्यक्ति में पूर्वजन्म की स्मृति सूक्ष्म शरीर में संचित रहती है और निमित्त पाकर जागृत हो जाती है। विज्ञान के अनुसार प्रोटोप्लाज्मा का कण जब स्मृति पटल पर जागृत हो जाता है तो बच्चे को अपने पूर्वजन्म की घटनाएँ याद आने लगती हैं। प्रोटोप्लाज्मा की अवधारणा से आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म—ये दोनों ही सिद्धान्त स्पष्ट हो जाते हैं।

पूर्वजन्म की स्मृति सबको क्यों नहीं होती?

आत्मा, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म आदि को न मानने वाले कुछ विचारकों का यह मंतव्य है कि यदि आत्मा, पूर्वजन्म का सिद्धान्त यथार्थ होता तो पूर्वजन्म की स्मृति सभी प्राणियों को उसी प्रकार होनी चाहिए थी, जिस प्रकार उन्हें अपने बाल्यावस्था और युवावस्था की स्मृति वृद्धावस्था में होती है, पर सभी को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती अतः यह एक मानसिक कल्पना मात्र है। यदि मरने के बाद पुनर्जन्म होता तो हमें शरीर से निकलकर आत्मा बाहर जाती हुई या किसी दूसरे शरीर में प्रवेश करती हुई क्यों नहीं दिखाई देती?

इसके समाधान में कहा जा सकता है कि किसी को अपने पूर्वजन्म की स्मृति न होने पर उसके अभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस जन्म की भी बहुत-सी बातों को हम अपनी स्मृति में नहीं रख पाते। सुबह की बात भी शाम को भूल जाते हैं अतः स्मृति न होने के कारणों का निर्देश देते हुए कहा गया कि

जन्म और मृत्यु के समय व्यक्ति को भयंकर कष्ट होता है, दुःख होता है, उस दुःख के कारण व्यक्ति को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती। प्रायः हम देखते हैं, इस जन्म में भी आकस्मिक कोई दुर्घटना हो जाने पर व्यक्ति की याददाश्त खो जाती है। जन्म और मृत्यु के समय शरीर की एक-एक कोशिका में एकमेक हुआ प्राण जब उससे अलग होता है तब उसे अलग होने में भयंकर वेदना होती है, जिससे व्यक्ति मूर्च्छा में भी चला जाता है अतः उसे पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती।

दूसरा समाधान यह है कि स्मृति का संबंध दिमाग से है, मस्तिष्क से है। मृत्यु के समय व्यक्ति का मस्तिष्क नष्ट हो जाता है अतः सबको समान स्मृति नहीं होती।

जैन दर्शन के अनुसार पूर्वजन्म के संस्कार कार्मण शरीर के साथ रहते हैं पर वे संस्कार कोई प्रबल निमित्त मिलने पर ही जागृत होते हैं। सभी को वैसे निमित्त नहीं मिल पाते अतः सभी को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती।

मृत्यु के समय आत्मा एक शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में प्रवेश करती हुई भी इसलिए नहीं दिखाई देती, क्योंकि वह अमूर्त है। अमूर्त आत्मा को आंखों से या किसी उपकरण से देख पाना असंभव है। आत्मा के साथ जो कार्मण शरीर है, वह भी इतना सूक्ष्म है कि उसे भी शरीर में प्रवेश करते हुए और बाहर निकलते हुए नहीं देख सकते।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा का अस्तित्व त्रैकालिक है। पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के द्वारा वह विविध रूपों को धारण करती है। जब तक आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर रहता है तब तक वह जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त नहीं हो सकती। पुनर्जन्म का मूल कारक तत्त्व-कर्म है। जीव जब सर्वथा कर्ममुक्त हो जाता

है, तब उसका संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाता है। पुनर्जन्म की शृंखला टूट जाती है अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति को कर्मों के कारण ही बार-बार जन्म-मरण (पुनर्जन्म) करना पड़ता है।

प्रश्नावली

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालें।
2. आत्मा के भेद-प्रभेदों का विवेचन करें।
3. आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करें।
4. सिद्ध करें कि आत्मा शरीर परिमाण है।
5. आत्मा और शरीर के सम्बन्ध को विस्तार से समझाएँ।
6. पुनर्जन्म की अवधारणा पर प्रकाश डालें।

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

1. गति की अपेक्षा से आत्मा के प्रकारों का विवेचन करें।
2. अध्यात्म की अपेक्षा से आत्मा के प्रकारों का विवेचन करें।
3. आत्मा और शरीर का संबंध कब हुआ?
4. पुनर्जन्म की स्मृति के हेतुओं पर प्रकाश डालें।
5. पुनर्जन्म के कारणों पर प्रकाश डालें।

इकाई-3

आचार-मीमांसा

आध्यात्मिक व्यक्ति का लक्ष्य होता है—आत्म-साक्षात्कार। जिसे प्राप्त करने की प्रक्रिया है—सम्यक् आचार। आचार की पवित्रता के बिना केवल ज्ञान लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता। भगवान् महावीर की सारी आचार-व्यवस्था का आधार है—आत्मा। कर्म-बंधन के कारण आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही है। सम्यक् आचार के द्वारा आत्मा को कर्म-बंधन से मुक्त कर परमात्म-पद पर अवस्थित करना ही जैन आचार-मीमांसा का उद्देश्य है। जैन परम्परा में जो भी अनुष्ठान मोक्ष की ओर ले जाने वाला है, वह आचार है और शेष अनाचार।

सम्यक् आचार का पालन करने के लिए नौ तत्त्व और त्रिरत्न का ज्ञान होना आवश्यक है। रत्नत्रय के अभ्यास से आत्मा की क्रमिक विशुद्धि होती है, जिसे गुणस्थान कहा जाता है। आत्मा की विशुद्धि में षडावश्यक और दस धर्म का अभ्यास भी निमित्त बनता है। प्रस्तुत इकाई में जैन आचार का आधार और स्वरूप, नव तत्त्व, रत्नत्रय, गुणस्थान, षडावश्यक और दस धर्म का विवेचन किया गया है।

1. जैन आचार : आधार और स्वरूप

भारतीय दर्शन की चार प्रमुख शाखाएँ हैं—तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, प्रमाणमीमांसा और आचारमीमांसा। इनमें से जैन दर्शन में आचार का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि आचार ही मोक्ष रूपी साध्य को प्राप्त करने का साक्षात् साधन है अतः जैन आचार मीमांसा को विस्तार से समझने से पूर्व आचार का स्वरूप और उसके आधार को समझना आवश्यक है।

आचार का अर्थ

आचार का शाब्दिक अर्थ है—आचरण। आचर्यते इति आचारः, जिसका आचरण किया जाए, वही आचार है। आचार शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक चर् धातु से घञ् प्रत्यय लगाने पर बना है। 'चर्' धातु का प्रयोग मुख्य रूप से गति—चलना अर्थ में किया जाता है। हमारे मन में शुभ विचारों का चलना विचार है, शुभ वाणी का प्रयोग उच्चार है और शुभ विचारों को जीवन में उतारना आचार है। अच्छे आचार से ही अच्छे विचार की उत्पत्ति होती है और अच्छे विचार से ही आचार अच्छा बनता है। अतः आचार और विचार परस्पर सापेक्ष हैं।

आचार का स्वरूप

शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो आचार शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे—नीति, धर्म, कर्तव्य, नैतिकता आदि। जीवन-निर्वाह के लिए जिन बातों, नियमों की पालना की जाती है, वह आचार है। तत्त्व दर्शन को समग्र रूप से समझने और व्यवहार में उतारने की प्रक्रिया आचार है। इसी से जीवनशैली परिष्कृत और परिशुद्ध होती है। समाज में प्रतिष्ठा का मूल्यांकन भी व्यक्ति का आचार और व्यवहार बनता है। इसीलिए कहा गया—आचार समाज का दर्पण है। सम्यक् आचार के पालन से न केवल सामाजिक उन्नति अपितु आध्यात्मिक उन्नति भी होती है। अतः आचार ही मोक्ष-प्राप्ति का साक्षात् कारण है। जैन आचार का केन्द्र बिन्दु है—आत्मा। आत्मा के उत्थान के लिए जो भी आचरण निर्दिष्ट हैं, वही जैन आचार का स्वरूप है।

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। यह संबंध कब तक बना रहेगा, निश्चित नहीं है। कर्म के कारण ही आत्मा को विविध योनियों में परिभ्रमण करना पड़ता है। कर्म से ही पुनर्जन्म होता है। जन्म-मरण और कर्म-परम्परा को रोकने के

लिए संवर और निर्जरा की साधना आवश्यक है। संवर और निर्जरा ही जैन आचार का मूल स्वरूप है। संवर की साधना के लिए पांच चारित्र, पांच समिति, तीन गुप्ति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा का अभ्यास और बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। निर्जरा में अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार से तप की साधना कर कर्म-क्षय किये जाते हैं, जिससे आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है, प्रकट होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण आचार-शास्त्र का उद्देश्य कर्मों को नष्टकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उजागर करना है।

जैन आचार का महत्त्व

जैन परम्परा में आचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया—विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ प्राणी है। सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियों में आचारवान श्रेष्ठ है। आचार की महिमा बताते हुए वैदिक महर्षियों ने कहा—आचार से विद्या प्राप्त होती है, मनुष्य की आयु बढ़ती है। कान्ति और कीर्ति उपलब्ध होती है। ऐसा कौन-सा सद्गुण है, जो आचार से प्राप्त नहीं होता। आचार की शुद्धि होने से सत्त्व की शुद्धि होती है, सत्त्व की शुद्धि होने से चित्त एकाग्र बनता है और चित्त एकाग्र होने से साक्षात् मुक्ति प्राप्त होती है।

आचार की महत्ता बताते हुए आचार्य तुलसी ने लिखा—

है रुपया निन्यानवे, विमल विनय आचार।

शेष एक रुपया रहा, विद्या कला प्रचार।।

अर्थात् सौ रुपये में निन्यानवे रुपये का मूल्य निर्मल और विनम्र आचार को है और विद्या (ज्ञान) को एक रुपया ही मूल्य दिया गया है। इससे भी आचार के महत्त्व का मूल्यांकन किया जा सकता है।

आचार की पृष्ठभूमि ज्ञान

जैन दर्शन के अनुसार आचार की पृष्ठभूमि है—ज्ञान। दशवैकालिक सूत्र में कहा गया—‘पढमं नाणं तओ दया’ पहले जानो फिर उसका आचरण करो। भगवान महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है ‘ज्ञानं प्रथमो धर्मः’। ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक कर सकता है। अनाचार को छोड़कर आचार का पालन कर सकता है। सूत्रकृतांग सूत्र में भी बुज्जेज्ज तिउट्टेज्जा के माध्यम से यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है—पहले बंधन को जानो। बंधन क्या है? उसके हेतु क्या हैं? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं? इन सबको जानने के बाद ही बंधन को तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ किया जा सकता है।

अज्ञानी व्यक्ति हेय-उपादेय को जानता ही नहीं, बंधन-मोक्ष को जानता ही नहीं तो वह उसे छोड़ने और तोड़ने की दिशा में पुरुषार्थ नहीं कर सकता। धर्म-अधर्म, नैतिक-अनैतिक, श्रेय-अश्रेय के बीच भेदरेखा खींचने वाला तत्त्व है—ज्ञान।

भगवान महावीर ने ज्ञान पर ही बल नहीं दिया। अपितु ज्ञान के सार की खोज की। ‘णाणस्स सारमायारो’ ज्ञान का सार आचार है। आचार के अभाव में ज्ञान अधूरा है। जैसा कि कहा भी गया है—ज्ञान के बिना आचरण पंगु है और आचरण के बिना ज्ञान अंधा है। व्यक्ति चाहे कितना ही ज्ञानी क्यों न हो किन्तु जब तक वह ज्ञान आचरण में नहीं उतरता तब तक ज्ञान की उज्ज्वलता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिए जैन शास्त्रों का यह उद्घोष है—ज्ञान का सार आचार है।

जैन आचार का आधार

कोई भी क्रिया की जाती है तो एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यह क्रिया क्यों की जा रही है? इसका हेतु क्या है? आधार

क्या है? आधार का निश्चय हुए बिना कोई भी आचार-संहिता नहीं बन सकती। जैन आचार के आधारभूत तत्त्व ये चार वाद हैं—

1. आत्मवाद,
2. लोकवाद,
3. कर्मवाद,
4. क्रियावाद।

1. आत्मवाद

जैन दर्शन की आचार-मीमांसा का प्रथम आधार है—आत्मा। आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व है। उसका अस्तित्व अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं होता वह जैन आचार को भी समझ नहीं सकता। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा एक अमूर्त तत्त्व है। हर व्यक्ति उसे देख नहीं पाता। इसीलिए बहुत सारे व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूँ, इस जन्म से पूर्व मैं कहाँ था और यहां से मरकर मैं कहाँ जाऊँगा? अनात्मवादियों के अनुसार हमारा अस्तित्व वर्तमान तक ही सीमित है। अतः उनका आचार केवल वर्तमानिक होता है। वर्तमान जीवन, सामाजिक जीवन, सुख-सुविधा से चल सके, उसी को लक्ष्य में रखकर उनकी आचार-संहिता का निर्माण होता है। जहां आत्मा का त्रैकालिक अस्तित्व मान्य होता है, वहां आचार की शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए उन्नत आचार का पालन किया जाता है, अतः आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति उन्नत आचार की पृष्ठभूमि है, आधारशिला है।

2. लोकवाद

जैन दर्शन द्वैतवादी दर्शन है। वह आत्मा और पुद्गल इन दो तत्त्वों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। लोक का अर्थ

है—पुद्गल। लोक्यते इति लोकः के अनुसार जो दिखाई देता है, वह लोक है। पुद्गल दिखाई देता है इसलिए उसे लोक कहा गया है। जो आत्मा को जान लेता है वह लोक (पुद्गल) को जान लेता है। निष्कर्ष की भाषा में आत्मा और पुद्गल—दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। यदि केवल आत्मा होती तो उसके संसार-परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता और केवल पुद्गल होता तो भी परिभ्रमण का कोई कारण नहीं रहता, अतः दोनों का अस्तित्व है।

3. कर्मवाद

जैन दर्शन की आचार-मीमांसा का तीसरा आधार है—कर्मवाद। संसारी अवस्था में आत्मा कर्म से बद्ध है। इसी कर्म के कारण अनादि काल से बार-बार उसका संसार में परिभ्रमण हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है। जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिए कर्म से मुक्त होना आवश्यक है।

4. क्रियावाद

आत्मा और कर्म का संबंध क्रिया (आश्रव) के द्वारा होता है। जब तक आत्मा में राग-द्वेषजनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, तब तक उसका कर्म-परमाणुओं के साथ संबंध होता रहता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ये चारों वाद सम्पूर्ण जैन आचारशास्त्र के आधार हैं। संसारी अवस्था में आत्मा और कर्म का संबंध रहता है। संबंध का कारण है—क्रिया। अक्रिय अवस्था में कोई संबंध स्थापित नहीं होता। जैसे-जैसे कषाय क्षीण होता है, अक्रिया की स्थिति आने लगती है, आत्मा और कर्म का संबंध क्षीण होने लगता है। पूर्ण अक्रिया की स्थिति आने पर सारे संबंध नष्ट हो जाते हैं। आचारशास्त्र के निरूपण और पालन के पीछे मूल उद्देश्य कर्म-बंधन से मुक्त हो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना है।

जैन आचार-शास्त्र की विशेषताएँ

जैन आचार-शास्त्र के पुरस्कर्ता तीर्थंकर, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे। उन्होंने जिस आचार का प्रतिपादन किया, वह जितना पारमार्थिक था, उतना ही व्यावहारिक भी था। उनके आचारशास्त्र की निम्न विशेषताएँ जानने और आचरण करने योग्य हैं—

1. आचार-साधना की क्रमिकता—जैन आचार साधना की पहली विशेषता यह है कि इसमें साधना की क्रमिक अवस्थाओं का प्रतिपादन है। साधना करने वाले हर साधक का शरीरबल, मनोबल, आत्मबल, श्रद्धाबल समान नहीं होता। हर साधक प्रारम्भ में ही साधना के शिखर पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए भगवान महावीर ने दो प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया—श्रावकाचार और श्रमणाचार। उन्होंने कहा—साधक अणुव्रतों के आचरण से अपनी साधना प्रारम्भ करे और धीरे-धीरे महाव्रतों की साधना के लिए प्रस्थान करे। साधुता की उत्कृष्ट भूमिका पर पहुँचकर वीतराग, केवलज्ञानी बने और अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करें। इस प्रकार जैन दर्शन में चौदह गुणस्थान के रूप में साधना की क्रमिक भूमिकाओं का प्रतिपादन हुआ है, जिसकी क्रमशः साधना करते हुए साधक साधना के शिखर पर पहुँच सकता है।

2. निश्चय और व्यवहार का समन्वय—जैन आचार साधना की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें निश्चय और व्यवहार का समन्वय है। इसमें साधना का जो स्वरूप बताया गया है, उस साधना के पीछे एकमात्र उद्देश्य है—कर्ममुक्ति, कषायमुक्ति। निश्चय नय की दृष्टि से कर्ममुक्ति और कषायमुक्ति ही जैन आचार-साधना का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्रत, नियम, संयम आदि की जो भी साधना की जाती है, उसका प्रभाव व्यवहार जगत में भी पड़ता है। अहिंसा, सत्य आदि व्रतों की साधना करने वाला तथा संयमपूर्वक अपना जीवन यापन करने वाला

साधक न केवल अपनी आत्मा का उत्थान करता है अपितु समाज में भी आदर्श माना जाता है।

3. **आत्मौपम्य की भावना**—जैन आचारशास्त्र की तीसरी विरल विशेषता है—आत्मौपम्य-दृष्टि। संसार के हर प्राणी को अपनी आत्मा के तुल्य समझो। जिस प्रकार हमें दुःख, कष्ट पसन्द नहीं है, हमें कोई दुःख, कष्ट देता है तो अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के हर प्राणी को दुःख और कष्ट पसन्द नहीं है, उन्हें कोई दुःख और कष्ट देता है तो उन्हें भी अच्छा नहीं लगता। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया 'अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए' पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—इन सभी जीवों को अपने समान समझो। जिस साधक में यह आत्मौपम्य दृष्टि विकसित हो जाती है, वह अपने या दूसरों के स्वार्थ के लिए किसी को पीड़ा नहीं देता।

4. **समभाव**—जैन आचार शास्त्र की चौथी सर्वोत्कृष्ट विशेषता है—समभाव, समता की साधना। कर्मों के उदय से साधक के जीवन में अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती रहती हैं। कभी लाभ होता है कभी अलाभ, कभी सुख होता है कभी दुःख, कभी सम्मान होता है कभी अपमान, किन्तु साधक इन सभी परिस्थितियों में समभाव रखता है, अपना संतुलन नहीं खोता। समभाव की साधना से कर्मों की निर्जरा होती है, नए कर्मों का बंधन नहीं होता।

5. **युग की समस्याओं का समाधान**—जैन आचारशास्त्र में कुछ ऐसे शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन किया गया है, जो सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। साथ ही युग की समस्याओं का समाधान देने वाले हैं। वर्तमान युग की तीन बड़ी समस्याएँ मानी जाती हैं—हिंसा, अभाव और आग्रह। इन तीनों ही समस्याओं का समाधान जैन दर्शन के अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त में खोजा जा सकता है।

♦ **हिंसा का समाधान अहिंसा**—आज के युग की एक बड़ी समस्या है—हिंसा। व्यक्ति अपने थोड़े से सुख के लिए दूसरों की

हिंसा करता है, शोषण और अन्यायपूर्ण—व्यवहार करता है। परिणामस्वरूप स्वयं कर्मों का बंधन करता है और समाज को भी रुग्ण बनाता है। अहिंसा के द्वारा इस समस्या का समाधान किया जा सकता है। अहिंसा के सूक्ष्म सिद्धान्त को समझने वाला तथा अहिंसक जीवन जीने वाला न केवल स्वयं कर्मबंधन से बचता है अपितु स्वस्थ समाज का भी निर्माण करता है।

❖ **अभाव का समाधान अपरिग्रह**—आज के युग की दूसरी बड़ी समस्या है—अभाव। इस देश में आधे से ज्यादा लोग अभाव का जीवन जी रहे हैं। उनके पास खाने के लिए पूरी रोटी नहीं है, पहनने के लिए पूरे वस्त्र नहीं हैं और रहने के लिए मकान नहीं हैं। रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव उन्हें हिंसा, अत्याचार, भ्रष्टाचार करने के लिए मजबूर करता है। महात्मा गांधी ने कहा था—पृथ्वी पर इतनी साधन सामग्री है कि वह प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता को पूरा कर सकती है, किन्तु उसके पास इतनी साधन-सामग्री नहीं है कि वह एक भी व्यक्ति की इच्छाओं को पूरा कर सके, क्योंकि इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। वे कभी पूरी नहीं होती। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी इच्छा पैदा होती रहती है। इच्छाओं पर नियंत्रण करने के लिए इच्छापरिमाणव्रत-अपरिग्रह व्रत की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। इच्छाओं का निग्रह होते ही, आवश्यकताओं का अल्पीकरण स्वयं होने लगता है, जिससे अभाव की समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है।

❖ **आग्रह का समाधान अनेकान्त**—आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है—आग्रह की वृत्ति। हर व्यक्ति अपने आपको, अपने विचारों और दृष्टिकोण को सत्य मानने का आग्रह करता है तथा दूसरों के विचारों और दृष्टिकोण को सत्य नहीं मानता। इस आग्रह के कारण ही कलह, असमंजस एवं निरपेक्ष भावना का विकास होता है। इस आग्रह की समस्या का समाधान जैन दर्शन के अनेकान्त

सिद्धान्त में खोजा जा सकता है। अनेकान्त का तात्पर्य है वस्तु अनन्त धर्मात्मक (स्वभाव वाली) है। अतः उसके एक धर्म को जानकर उसे ही सम्पूर्ण सत्य मानने का आग्रह मत करो। वह सम्पूर्ण सत्य नहीं है, सत्यांश है। दूसरों के विचार और दृष्टिकोण में भी सत्य को खोजने का प्रयास करो। इससे आग्रह की समस्या को समाधान मिलता है। सत्य को जानने का अवसर प्राप्त होता है।

इस प्रकार जैन आचार की साधना जहां मोक्ष-प्राप्ति का साधन है, वहीं आज की समस्याओं का समाधान देने वाली भी है।

2. नौ तत्त्व

‘तत्त्व’ तत् शब्द से बना है। संस्कृत भाषा में तत् शब्द सर्वनाम है। सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थ के वाचक होते हैं। तत् शब्द से भव अर्थ में ‘त्व’ प्रत्यय लगाकर ‘तत्त्व’ शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है—उसका भाव अर्थात् ‘तस्य भावः तत्त्वम्’। वस्तु के भाव या स्वभाव को तत्त्व कहते हैं, जैसे—स्वर्ण का स्वर्णत्व, अग्नि का अग्नित्व, जीव का जीवत्व स्वभाव है।

तत्त्व क्या है?

जैन दर्शन के अनुसार तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना सम्यग् दर्शन है तथा तत्त्वों की सही-सही जानकारी होना सम्यक् ज्ञान है। तो सहज ही जिज्ञासा होती है कि तत्त्व क्या है? तत्त्व के लिए सत्, सत्व, अर्थ, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। तत्त्व शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से दो अर्थों में हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्, सत् द्रव्य लक्षणम्’। तत्त्व का पहला अर्थ है जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्ययुक्त होता है वह सत् कहलाता है तथा जो सत् है वही द्रव्य, तत्त्व है। तत्त्व का दूसरा अर्थ किया गया—‘तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु’ अर्थात् जो परमार्थ (मोक्ष) प्राप्ति में

साधक या बाधक बनता है, वह पारमार्थिक पदार्थ तत्त्व है। इस प्रकार जैन दर्शन में तत्त्व को विस्तार से समझाने के लिए दो पद्धतियाँ काम में ली गई हैं—जागतिक और आत्मिक। जहाँ जगत् के विवेचन की प्रमुखता है, वहाँ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—इन छः तत्त्वों की चर्चा की जाती है और जहाँ आत्मतत्त्व की प्रमुखता है, वहाँ जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वों का विवेचन किया जाता है।

नौ तत्त्व

मोक्ष साधना में उपयोगी ज्ञेय पदार्थों को तत्त्व कहा जाता है। वे संख्या में नौ हैं—

1. जीव—जिसमें चेतना हो, वह जीव है।
2. अजीव—जिसमें चेतना न हो, वह अजीव है।
3. बंध—आत्मा के साथ बंधे हुए कर्म-पुद्गलों का नाम बंध है।
4. पुण्य—शुभ रूप से उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य हैं।
5. पाप—अशुभ रूप से उदय में आने वाले कर्म-पुद्गल पाप हैं।
6. आश्रव—कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने वाली आत्मप्रवृत्ति आश्रव है।
7. संवर—आश्रव का निरोध करने वाली आत्मपरिणति संवर है।
8. निर्जरा—तपस्या आदि के द्वारा कर्म-विलय होने से आत्मा की जो आंशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।
9. मोक्ष—समस्त कर्मों से मुक्त हो आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होना मोक्ष है।

नौ तत्त्व हेय, ज्ञेय, उपादेय के रूप में

नौ तत्त्वों को हेय, ज्ञेय और उपादेय—इन तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। हेय से तात्पर्य है—छोड़ने योग्य। ज्ञेय से तात्पर्य है—जानने योग्य और उपादेय से तात्पर्य है—ग्रहण करने योग्य। नौ तत्त्वों में जीव, पुण्य, पाप, बंध और आश्रव तत्त्व हेय हैं क्योंकि ये कर्म-बंधन के कारण हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं, क्योंकि ये कर्ममुक्ति के उपाय हैं। ज्ञेय नौ ही तत्त्व हैं क्योंकि नौ तत्त्वों को जाने बिना हेय और उपादेय का विवेक भी नहीं किया जा सकता।

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है जीव और अन्तिम तत्त्व है—मोक्ष। दोनों ही जीव हैं। पहला बद्धजीव है और दूसरा मुक्तजीव है। बंधन से मोक्ष तक पहुँचने के लिए नौ तत्त्वों को विस्तार से जानना आवश्यक है। जिस प्रकार जब कोई रोगी किसी प्रसिद्ध डॉक्टर के पास जाता है तो डॉक्टर सर्वप्रथम यह जानने का प्रयास करता है कि उसका रोग क्या है? रोग का निदान कर लेने के बाद वह रोग के कारणों की खोज करता है? कारण की खोज करने के बाद रोग को दूर करने के उपायों की खोज करता है। रोग अधिक न बढ़े अतः सबसे पहले वह उसे तत्काल रोकने का प्रयास करता है। इसके पश्चात् उस स्थिति का भी आकलन करता है कि रोगमुक्ति के पश्चात् पूर्ण स्वस्थता का स्वरूप क्या होगा? रोग, रोग के कारण, रोगमुक्ति के उपाय तथा रोगमुक्त अवस्था इन चारों तथ्यों को अच्छी तरह से जानकर ही डॉक्टर रोगी के रोग का इलाज करता है। उसी प्रकार दुःखों से या कर्म-बंधन से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले साधक को भी चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। पहला तत्त्व है—दुःख को जानना। दूसरा तत्त्व है—दुःख के कारणों को जानना। तीसरा तत्त्व है—दुःख से मुक्त होने के उपायों को जानना और चौथा तत्त्व है—दुःखमुक्त अवस्था का अनुभव करना।

कर्मबंधन दुःख है। वह बंधन पुण्य (शुभकर्म बंधन) और पाप (अशुभकर्म बंधन) के भेद से दो प्रकार का है। दुःख या कर्मबंधन का कारण है—आश्रय। दुःख मुक्ति या कर्ममुक्ति का उपाय है—संवर और निर्जरा। दुःखमुक्त या कर्ममुक्त अवस्था है—मोक्ष। इस प्रकार कर्ममुक्ति या दुःखमुक्ति के लिए नौ तत्त्वों को जानना आवश्यक है।

1. जीव तत्त्व

नौ तत्त्वों में पहला तत्त्व है—जीव। जैन आगमों में जीव के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है; यथा—जीव, प्राणी, आत्मा, प्राण, भूत, सत्त्व, स्वयंभू, कर्त्ता आदि। जिसमें चेतना तथा सुख-दुःख का संवेदन होता है, उसे जीव कहा जाता है। 'उपयोग लक्षणो जीवः' इस परिभाषा के अनुसार उपयोग जीव का लक्षण है। उपयोग से तात्पर्य है—चेतना का व्यापार। चेतना के दो रूप हैं—ज्ञान और दर्शन। इनके व्यापार (प्रवृत्ति) को उपयोग कहते हैं।

जीव तत्त्व के मुख्यतः दो भेद किये गए हैं—संसारी और मुक्त। इस भेद का आधार कर्मबंधन है। जो जीव कर्म से बंधे हुए हैं, वे संसारी जीव कहलाते हैं। जो कर्मों से सर्वथा मुक्त हो गए हैं, वे मुक्तजीव हैं। नौ तत्त्वों में विवेचित प्रथम 'जीव तत्त्व' संसारी जीव और नवां 'मोक्ष तत्त्व' मुक्तजीव है। कर्मबंधन के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। संसार में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीव भी पुनः दो भागों में विभक्त हैं—त्रस और स्थावर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये एकेन्द्रिय जीव स्थावर जीव हैं। ये अपने सुख के लिए प्रवृत्ति और दुःख से निवृत्त होने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति नहीं कर सकते। एक ही स्थान पर स्थिर रहने के कारण इन्हें स्थावर जीव कहते हैं। स्थावर नामकर्म के उदय से ये जीव स्थावर बनते हैं। मनुष्य, देव, नारक, तथा दो इन्द्रियों से लेकर पांच इन्द्रियों तक के तिर्यंच जीव

त्रस कहलाते हैं। ये अपने सुख-दुःख की प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर गति कर सकते हैं। त्रस नामकर्म के उदय से ये जीव त्रस बनते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव अनादि-निधन है। न इनकी आदि है और न ही इनका अन्त है। ये अक्षय और अविनाशी हैं। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। द्रव्य दृष्टि से इसका स्वरूप तीनों कालों में एक जैसा रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः द्रव्य दृष्टि से आत्मा नित्य है। पर्याय दृष्टि से वह भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है अतः पर्याय दृष्टि से वह अनित्य भी है। संसारी अवस्था में आत्मा और शरीर का संबंध दूध में मिले पानी, तिल में स्थित तेल की भांति एक प्रतीत होता है किन्तु जिस प्रकार दूध से पानी, तिल से तेल अलग है, उसी प्रकार आत्मा शरीर से अलग है। कर्मों के कारण अनादि काल से आत्मा और शरीर का संबंध बना हुआ है। प्रयत्न विशेष से जिस प्रकार दूध और पानी को, तिल और तेल को अलग-अलग किया जा सकता है उसी प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा अनादि काल से स्थापित आत्मा और शरीर के संबंध को तोड़ा जा सकता है। समस्त कर्मों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

2. अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व जीव का प्रतिपक्षी है। जहां जीव तत्त्व सचेतन होता है वहां अजीव तत्त्व अचेतन होता है। अजीव तत्त्व के दो भेद हैं—अरूपी और रूपी। जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त होता है वह रूपी कहलाता है और जो इनसे रहित होता है वह अरूपी कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये चार अरूपी अजीव तत्त्व हैं तथा एक पुद्गल रूपी अजीव तत्त्व है।

जैन दर्शन के अनुसार लोक अथवा सृष्टि की अवधारणा को समझने के लिए धर्मास्तिकाय आदि छः तत्त्वों को विस्तार से समझना आवश्यक होता है। किन्तु आत्मा को संसारी अवस्था से मुक्त करने के लिए केवल पुद्गल द्रव्य को समझना आवश्यक होता है। क्योंकि कार्मण वर्गणा के पुद्गल ही कर्म रूप में परिणत होकर आत्मा के साथ चिपक जाते हैं तथा उसे संसार में परिभ्रमण करवाते हैं। ये कर्म-पुद्गल ही शुभरूप से उदय में आने पर पुण्य और अशुभरूप से उदय में आने पर पाप कहलाते हैं। जब तक ये कर्म-पुद्गल अपना फल नहीं देते, आत्मा के साथ चिपके रहते हैं, तब तक बंध कहलाते हैं। जब तक जीव का इस अजीव तत्त्व के साथ संबंध रहेगा तब तक जीव संसार से मुक्त नहीं हो सकता। अतः संसार से, कर्मों से अथवा दुःखों से मुक्ति चाहने वाले व्यक्ति के लिए ये आवश्यक है कि वह दुःख, दुःख के कारण और दुःख मुक्ति के उपायों को जाने। जानने के बाद दुःख के कारणों को छोड़े तथा दुःखमुक्ति के उपायों को ग्रहण कर उसका आचरण करे, जिससे कि वह दुःखमुक्त अवस्था मोक्ष को प्राप्त कर सके।

3. बंध तत्त्व

दो पदार्थों के विशिष्ट संबंध को बंध कहते हैं। बंध का शाब्दिक अर्थ है—जुड़ना। जीव और कर्मपुद्गल के संबंध को बंध कहते हैं। बंध के दो प्रकार हैं—द्रव्यबन्ध और भावबन्ध। कर्म-पुद्गलों का आत्मप्रदेशों के साथ संबंध होना द्रव्यबन्ध है तथा जिन राग-द्वेषमय भावों के कारण कर्मबन्ध होता है वे राग-द्वेषमय भाव भावबन्ध हैं।

जीव और कर्म परस्पर विरोधी स्वभाव वाले पदार्थ हैं, किन्तु बंध अवस्था में ये दूध में घी की भांति एकमेक हो जाते हैं। अनादि काल से आत्मा और कर्म का संबंध चला आ रहा है। इसी संबंध के कारण वह संसार में अनादि काल से परिभ्रमण कर रहा है। यह बंधन ही दुःख है।

आचार्य उमास्वाति ने पुण्य और पाप को बंध का ही भेद स्वीकार कर तत्त्व सात माने हैं। इन्हें अलग मानने पर तत्त्वों की संख्या नौ हो जाती है।

4. पुण्य तत्त्व

कर्म बंधन दो प्रकार का होता है—शुभ बंधन और अशुभ बंधन। जब शुभ कर्मों का उदय होता है तो उन्हें पुण्य कहा जाता है और जब अशुभ कर्मों का उदय होता है तो उन्हें पाप कहा जाता है। कारण में कार्य का उपचार करने पर जिन-जिन कारणों से शुभ कर्म का बंधन होता है, उन कारणों को भी पुण्य कह दिया जाता है।

पुण्य के प्रकार

पुण्य का बंधन नौ कारणों से होता है अतः पुण्य के नौ प्रकार हैं—

1. अन्न पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले अन्न दान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म अन्न पुण्य है।
2. पान पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पानक-जल आदि के निमित्त से होने वाला शुभकर्म पान पुण्य है।
3. लयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले मकान के निमित्त से होने वाला शुभकर्म लयन पुण्य है।
4. शयन पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले पाट-बाजोट आदि के निमित्त से होने वाला शुभकर्म शयन पुण्य है।
5. वस्त्र पुण्य—संयमी पुरुष को दिये जाने वाले वस्त्र के निमित्त से होने वाला शुभकर्म वस्त्र पुण्य है।
6. मन पुण्य—मन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म मन पुण्य है।

7. वचन पुण्य—वचन की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म वचन पुण्य है।
8. काय पुण्य—शरीर की शुभ प्रवृत्ति से होने वाला शुभकर्म काय पुण्य है।
9. नमस्कार पुण्य—पंच परमेष्ठी को किए जाने वाले नमस्कार के निमित्त से होने वाला शुभकर्म नमस्कार पुण्य है।

5. पाप तत्त्व

पुण्य का प्रतिपक्षी तत्त्व पाप है। अशुभ रूप में बंधे हुए कर्म जब उदय में आते हैं तो उन्हें पाप कहा जाता है। कारण में कार्य का उपचार होने से जिन-जिन कारणों से अशुभ कर्म का बंधन होता है, उन कारणों को भी पाप कह दिया जाता है।

पाप के प्रकार

पाप के अठारह प्रकार हैं—

1. प्राणातिपात पाप—यह प्राण-वध मूलक अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
2. मृषावाद—यह असत्य-वचन रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
3. अदत्तादान—यह अदत्त वस्तु के ग्रहण रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
4. मैथुन—यह अब्रह्मचर्य के सेवन से बंधने वाला पापकर्म है।
5. परिग्रह—यह वस्तु-संग्रह या ममत्व रूप अशुभ प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।

6. क्रोध—यह उत्तेजना से बंधने वाला पापकर्म है।
7. मान—यह अभिमान से बंधने वाला पापकर्म है।
8. माया—यह धोखाधड़ी, वंचना आदि करने से बंधने वाला पापकर्म है।
9. लोभ—यह लालसा से बंधने वाला पापकर्म है।
10. राग—यह रागात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
11. द्वेष—यह द्वेषात्मक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
12. कलह—यह झगड़ालू वृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
13. अभ्याख्यान—यह मिथ्या दोषारोपण करने वाली प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
14. पैशुन्य—यह चुगली करने की प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
15. परपरिवाद—यह पर-निन्दामूलक प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
16. रति-अरति—यह असंयम में रुचि और संयम में अरुचि के निमित्त से बंधने वाला पापकर्म है।
17. माया-मृषा—यह छलनापूर्वक असत्य-संभाषण की प्रवृत्ति से बंधने वाला पापकर्म है।
18. मिथ्यादर्शनशल्य—यह विपरीत श्रद्धा से बंधने वाला पापकर्म है।

6. आश्रव तत्त्व

आत्मा और कर्म का संबंध अनादि-कालीन है। संबंध का मूल कारण आश्रव है। आश्रव के द्वारा कर्मों का आकर्षण होता है और कर्मों के कारण आत्मा अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण कर रही

है। संसार से मुक्ति चाहने वाले साधक के लिए कर्मबंधन के कारण आश्रव को जानना और फिर इसे छोड़ना आवश्यक है।

कर्माकर्षणहेतुरात्मपरिणामः आश्रवः—जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आश्रवण-प्रवेश होता है, उसे आश्रव कहा जाता है। जिस प्रकार छिद्रयुक्त नौका के समुद्र में स्थित होने पर उन छिद्रों से नौका में जल भरता रहता है और वह नौका समुद्र में डूब जाती है उसी प्रकार मिथ्यात्व, अव्रत आदि आश्रवछिद्रों द्वारा आत्मारूपी नाव में कर्मरूपी पानी का प्रवेश होता रहता है और वह कर्मयुक्त आत्मा संसार में परिभ्रमण करती रहती है।

आश्रव के प्रकार

आश्रव के पांच प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। ये पांचों कर्म आने के द्वार हैं। जिस प्रकार दरवाजा खुला होने पर कोई भी अन्दर प्रवेश कर सकता है, अच्छे व्यक्ति भी प्रवेश कर सकते हैं, बुरे व्यक्ति भी प्रवेश कर सकते हैं। उसी प्रकार आश्रव द्वार से शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म प्रवेश कर सकते हैं। ये आश्रव द्वार पांच हैं। ये पांचों कर्म बंधन के कारण होने से साधना में बाधक तत्त्व हैं।

1. **मिथ्यात्व आश्रव**—विपरीत तत्त्व श्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। यह जीव की दृष्टि को विकृत कर देता है, जिसके कारण व्यक्ति सही को गलत और गलत को सही समझता है, जैसे—धर्म को अधर्म समझता है और अधर्म को धर्म समझता है।

2. **अव्रत आश्रव**—अत्याग भाव का नाम अव्रत है। इसके कारण जीव हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग नहीं कर पाता।

3. **प्रमाद आश्रव**—अध्यात्म के प्रति होने वाले आन्तरिक अनुत्साह का नाम प्रमाद है।

4. कषाय आश्रव—आत्म-प्रदेशों में क्रोध आदि चार कषायों की उत्पत्ति का नाम कषाय आश्रव है।

5. योग आश्रव—योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। मन, वचन और शरीर की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप आत्मपरिणति का नाम योग आश्रव है। जहां प्रवृत्ति है, वहां बंधन है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्म बंधन और शुभ प्रवृत्ति से शुभ कर्मबंधन होता है।

जब तक इन पांचों आश्रवों का निरोध नहीं होता, तब तक व्यक्ति बंधन से मुक्ति की दिशा में प्रस्थान नहीं कर सकता।

7. संवर

‘आश्रवनिरोधः संवरः’ आश्रव का निरोध संवर है। आश्रव कर्म आने का द्वार है और उस द्वार को बंद कर देना संवर है। संवर आश्रव का विरोधी तत्त्व है। यह आते हुए कर्मों को रोकता है। जिस प्रकार मकान के दरवाजे, खिड़कियां खुली होती हैं तो मकान में हवा के साथ-साथ धूल आदि कचरा भी प्रवेश कर जाता है किन्तु दरवाजे, खिड़कियों को बंद कर देने पर धूल आदि कचरा भीतर प्रवेश नहीं करता। उसी प्रकार जो साधक कर्म-बंधन से मुक्ति चाहता है, वह पहले संवर की साधना करे। संवर के बाद निर्जरा के द्वारा पूर्वसंचित कर्मों की सफाई करे ताकि आत्मा कर्म-मलरहित हो शुद्ध और स्वच्छ बन सके।

संवर के प्रकार

जिस प्रकार आंधी आने पर पहले दरवाजे बंद कर दिये जाते हैं और फिर कचरे की सफाई की जाती है। उसी प्रकार आत्मशोधन के लिए पहले आश्रवरूपी द्वार को बंद किया जाता है। आश्रव द्वार पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। संवर के पांच प्रकार हैं—जो इन पांच द्वारों का क्रमशः निरोध करते

हैं। वे हैं—1. सम्यक्त्व संवर, 2. व्रत संवर, 3. अप्रमाद संवर, 4. अकषाय संवर, 5. अयोग संवर।

1. सम्यक्त्व संवर—यथार्थ तत्त्व श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों के बारे में सही श्रद्धा का होना और विपरीत श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व संवर है।

2. व्रत संवर—यह अव्रत का प्रतिपक्षी तत्त्व है। इसके दो रूप हैं—देशव्रत और सर्वव्रत। पापकारी वृत्तियों का आंशिक त्याग देशव्रत संयम है और इनका जीवन भर के लिए सम्पूर्ण रूप से त्याग सर्वव्रत संवर है।

3. अप्रमाद संवर—अध्यात्म के प्रति होने वाली सम्पूर्ण जागरूकता का नाम अप्रमाद संवर है।

4. अकषाय संवर—क्रोध आदि कषाय को सर्वथा क्षीण कर देना अकषाय संवर है।

5. अयोग संवर—योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध करना व्रत संवर है और अशुभ के साथ शुभ प्रवृत्ति का भी सम्पूर्ण निरोध करना अयोग संवर है। अयोग संवर की स्थिति में पहुँचने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है।

8. निर्जरा

संवर के द्वारा कर्मों का आगमन रुक जाता है अर्थात् नये कर्मों का बंधन नहीं होता है, किन्तु पूर्व संचित कर्मों की सत्ता बनी रहती है। पूर्व संचित कर्मों का क्षय तपस्या के द्वारा होता है। तपस्या के द्वारा कर्मों का क्षय होने पर आत्मा की जो उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है। इस परिभाषा के अनुसार तपस्या निर्जरा का कारण है। कारण में कार्य का उपचार करने से तपस्या को भी निर्जरा कहा जाता है। कर्म का पूर्ण विलय मोक्ष है तथा आंशिक विलय निर्जरा

है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप भेद नहीं। जैसे जल की एक बूंद समुद्र का ही अंश है, वैसे ही निर्जरा भी मोक्ष का अंश है। अंतर इतना ही है कि मोक्ष में कर्म का सम्पूर्ण विलय होता है और निर्जरा में कर्म का आंशिक विलय होता है।

निर्जरा के भेद

स्थानांग सूत्र में 'एगा णिज्जरा' निर्जरा एक है, ऐसा सामान्य की अपेक्षा कथन किया गया है, किन्तु जैसे एक ही स्वरूप वाली अग्नि काष्ठ, पाषाण, गोमय, तृणादि रूप कारणों के भेद से अनेक प्रकार की कही जाती है, वैसे ही तपस्या के बारह भेद होने से निर्जरा भी बारह प्रकार की कही गई है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से वह एक ही प्रकार की है। तप के बारह प्रकार को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया गया है—

1. बाह्य तप,
2. आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप

बाह्य तप वह है, जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता है तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा सहित होने से दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें मुख्यतः देह से संबंधित विकार दूर होते हैं। बाह्य तप के छः प्रकार हैं—1. अनशन, 2. ऊनोदरी, 3. भिक्षाचरी, 4. रसपरित्याग, 5. कायक्लेश, 6. प्रतिसंलीनता।

आभ्यन्तर तप

आभ्यन्तर तप वह है, जिसमें मानसिक वृत्तियों की प्रधानता रहती है तथा इसमें प्रायः बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रहती। इसमें अन्तःकरण में स्थित कामनाएँ, वासनाएँ, विकार आदि दूर होते हैं। आभ्यन्तर तप के भी छः प्रकार हैं—1. प्रायश्चित्त, 2. विनय, 3. वैयावृत्य, 4. स्वाध्याय, 5. ध्यान और 6. व्युत्सर्ग।

1. अनशन

अशन का अर्थ है—आहार। आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। कर्मों का क्षय करने के लिए सोद्देश्य आहार का त्याग करना अनशन है। आहार के अभाव में भूखा रहना अनशन नहीं है। अनशन दो प्रकार का होता है—1. इत्वरिक अनशन और 2. यावत्कथिक अनशन।

इत्वरिक अनशन—इत्वरिक अनशन एक निश्चित काल के लिए होता है। वह कम से कम एक दिन-रात्रि का भी हो सकता है और उत्कृष्ट छः महीने का भी हो सकता है।

यावत्कथिक—जीवन भर के लिए आहार का त्याग करना यावत्कथिक अनशन है। इसे संथारा भी कहा जाता है।

2. ऊनोदरी

हर व्यक्ति अनशन-उपवास नहीं कर सकता। जो उपवास आदि नहीं कर सकता वह अपने कर्मों का शोधन कैसे करे? उसके लिए तप का दूसरा प्रकार ऊनोदरी बताया गया। ऊन का अर्थ है—कम और उदर का अर्थ है—पेट। पेट में जितनी भूख है, उससे कम खाना ऊनोदरी है। उपवास को छोड़कर नवकारसी, प्रहर, एकासन आदि का समावेश भी ऊनोदरी में ही हो जाता है। ऊनोदरी के दो भेद हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी।

1. **द्रव्य ऊनोदरी**—भोजन, वस्त्र, पात्र आदि जितने भी उपकरण काम में लिए जाते हैं, उनमें कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। जैसे—प्रतिदिन दो रोटी खाते हैं तो उसमें से जितना संभव हो सके कम खाना। जितने वस्त्र, पात्र आदि काम में लेते हैं, उनसे कम का उपयोग करना द्रव्य ऊनोदरी है।

2. **भाव ऊनोदरी**—कषाय को कम करना भाव ऊनोदरी है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि को कम करना भाव ऊनोदरी है। जैसे

प्रतिदिन दस बार क्रोध करते हैं तो यह संकल्प करना आज पांच या तीन बार से ज्यादा क्रोध नहीं करूंगा।

3. भिक्षाचरी

बाह्य तप का तीसरा भेद है—भिक्षाचरी। भिक्षाचरी का तात्पर्य है विविध प्रकार के अभिग्रह—संकल्प करके आहार की गवेषणा करना। जैसे भिक्षा के लिए जाते समय यह संकल्प करना कि आज भिक्षा में यदि अमुक पदार्थ उपलब्ध हुआ, तभी भिक्षा लूंगा अन्यथा भिक्षा ग्रहण नहीं करूंगा। जिस प्रकार भिक्षा के लिए जाते समय भगवान् महावीर ने तेरह अभिग्रह-संकल्प किए। जब तक वे तेरह संकल्प एक साथ पूरे नहीं हुए तब तक उन्होंने भिक्षा ग्रहण नहीं की। भिक्षाचरी का दूसरा नाम वृत्तिसंख्यान तप भी है।

4. रस-परित्याग

आहार का त्याग करना ही तप नहीं अपितु खाते-पीते भी तप किया जा सकता है। रस का अर्थ है—प्रीति बढ़ाने वाला। 'रसं प्रीतिविवर्धनम्' जिससे भोजन में प्रीति उत्पन्न हो उसे रस कहते हैं। खाद्य पदार्थों में रसीले, पौष्टिक एवं चटपटे पदार्थों का त्याग करना रसपरित्याग है। इसमें मुख्य रूप से दूध, दही, घी, तेल, शक्कर, कढ़ाई विगय-मिठाई, नमकीन आदि इन छः विगय का त्याग किया जाता है क्योंकि घी, दूध, दही आदि पौष्टिक आहार का अधिक मात्रा में सेवन करने पर ये मन में विकार पैदा करते हैं।

5. कायक्लेश

बाह्य तप के प्रथम चार भेद आहार से संबंधित हैं और पांचवां भेद शरीर से संबंधित है। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना नहीं है किन्तु भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि से उत्पन्न शारीरिक कष्ट को समभाव से सहन करना है। अनेक प्रकार के आसनों से शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है। आसनों के अभ्यास से व्यक्ति

सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वों को समभाव से सहन करने की क्षमता अर्जित कर लेता है।

6. प्रतिसंलीनता

इन्द्रिय, मन आदि की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को वहां से हटाकर अन्तर्मुखी बनाने का नाम प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता के चार प्रकार हैं—

1. इन्द्रिय प्रतिसंलीनता—पांचों इन्द्रियों के विषय-भोगों का निरोध करना तथा इन्द्रियों से प्राप्त पदार्थों में राग-द्वेष न करना इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है।

2. कषाय प्रतिसंलीनता—क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों के उदय का निरोध करना। यदि रोकते हुए भी इनका उदय हो जाये तो क्षमा आदि आलम्बन से उसे निष्फल करना कषाय प्रतिसंलीनता है।

3. योग प्रतिसंलीनता—मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उन्हें शुभ प्रवृत्ति में लगाना योग प्रतिसंलीनता है।

4. विविक्तशय्यासन—स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित निर्जन, एकान्त, शान्त स्थान पर रहना विविक्त शय्यासन है।

इस प्रकार अनशन से लेकर प्रतिसंलीनता तक के बाह्य तप क्रमशः भोगों को घटाते हुए पूर्ण संयमी बनने की साधना है। संयमी साधक में ही अन्तर्मुखी होने की पात्रता तथा आभ्यन्तर तप करने की योग्यता आती है। अतः आभ्यन्तर तप के लिए बाह्य तप आवश्यक है।

7. प्रायश्चित्त

दोष की विशुद्धि के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त में दो शब्दों का योग है—प्रायः और

चित्त। प्रायः का अर्थ है—पाप और चित्त का अर्थ है उस पाप का विशोधन करना अर्थात् पाप को शुद्ध करने की क्रिया का नाम प्रायश्चित्त है। इस प्रकार दोषों से मुक्त होने की, आत्मशुद्धि की प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा गया है।

8. विनय

विनय की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है—‘विनीयते अष्टप्रकारं कर्मानेनेति विनयः’ जिससे आठ प्रकार के कर्म दूर किये जाते हैं, वह विनय है। इसका प्रवृत्तिजन्य अर्थ है—गुणीजनों और श्रेष्ठजनों के प्रति यथोचित सम्मानपूर्ण व्यवहार करना, उनको हाथ जोड़ना, उनके आने पर खड़ा होना, आसन देना आदि। इस प्रकार विनय के दो अर्थ हैं—कर्मों का अपनयन करना और गुणीजनों, बड़ों का बहुमान करना, उनकी आशातना न करना। आशातना अर्थात् असद् व्यवहार। आशातना का अभाव और बहुमान का भाव, यह विनय की परिभाषा है। इससे ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की विशेष निर्मलता होती है तथा मन, वचन और काया की पवित्रता सधती है।

9. वैयावृत्य

वैयावृत्य का सीधा-सा अर्थ है—सेवा करना। सहयोग की भावना से सेवा-कार्य में जुड़ना वैयावृत्य तप कहलाता है। इस तप की आराधना करने वाला आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि की अपेक्षाओं को समझकर सेवभावना की प्रेरणा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने पर ही वैयावृत्य किया जा सकता है।

10. स्वाध्याय

सद्शास्त्रों के अध्ययन का नाम स्वाध्याय है। इसका दूसरा अर्थ है—स्व का अध्ययन करना अर्थात् आत्मचिंतन-मनन करना

स्वाध्याय है। यह आत्मलीनता की स्थिति में ही हो सकता है। अध्येता को आत्मा से हटाकर पदार्थ जगत् की ओर धकेलने वाला अध्ययन स्वाध्याय की कोटि में नहीं आ सकता। स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं—

1. वाचना—शास्त्रों को पढ़ना, पढ़ाना।
2. पृच्छना—शंका निवारण के लिए प्रश्न करना।
3. परिवर्तना—सीखे हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना।
4. अनुप्रेक्षा—अर्थ का चिन्तन करना।
5. धर्मकथा—धर्मकथा करना।

11. ध्यान

मन की एकाग्र अवस्था का नाम ध्यान है। ध्यान प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का होता है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त ध्यान है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त ध्यान है। शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना प्रशस्त ध्यान है। अशुभ और अपवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना अप्रशस्त ध्यान है।

जिस प्रकार रुई को धुने से उसके तार-तार बिखर जाते हैं। रुई की सघनता मिट जाती है। उन तारों में बल एवं मल नहीं रहता। उसी प्रकार ध्यान साधना के द्वारा सघन कर्म खंड-खंड होकर बिखर जाते हैं। कर्मों की सघनता मिट जाती है। आत्मा निर्मल और पवित्र बनती है।

12. व्युत्सर्ग-कायोत्सर्ग

व्युत्सर्ग में दो शब्द हैं—वि और उत्सर्ग। वि का अर्थ है विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है—त्याग, छोड़ना। त्याग करने की विशिष्ट विधि व्युत्सर्ग है। यह त्याग अपने शरीर का हो सकता है, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों का भी हो सकता है और भोजन-

पानी का भी हो सकता है। शरीर व्युत्सर्ग का नाम कायोत्सर्ग है। जिसमें अनासक्ति और निर्लोभता होती है वही व्युत्सर्ग तप की सच्ची आराधना कर सकता है।

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर तप की आराधना से कर्मों की महान निर्जरा होती है। तप निर्जरा का कारण है, इसलिए तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद के रूप में गिनाया गया है। तप और निर्जरा में कारण-कार्यभाव संबंध है। तप कारण है और निर्जरा कार्य है। कारण-कार्य में अभेद मानकर तप के बारह भेदों को ही निर्जरा के बारह भेद बताये गये हैं।

9. मोक्ष

नौ तत्त्व में अंतिम तत्त्व है—मोक्ष। इस मोक्ष तत्त्व को प्राप्त करना ही प्रत्येक प्राणी का चरम और परम लक्ष्य है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थित होना मोक्ष है। तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष को परिभाषित करते हुए कहा गया है—‘कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः’ सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय उसी अवस्था में हो सकता है, जब नवीन कर्मों के बन्ध को सर्वथा रोक दिया जाए तथा पूर्वबद्ध कर्मों की पूरी तरह निर्जरा कर दी जाये। जब तक नवीन कर्म आते रहेंगे तब तक कर्म का सम्पूर्ण क्षय नहीं हो सकता। संवर के द्वारा नवीन कर्मों के आगमन को रोका जाता है और निर्जरा के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय-नाश किया जाता है। इस प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होता है तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है जहां आत्मा कर्मों के मल से सर्वथा रहित अमल और धवल हो जाती है। मुक्त आत्माएँ जहां रहती हैं, उस स्थान को भी उपचार से मोक्ष कहा जाता है। किन्तु वह मोक्ष तत्त्व नहीं है। मोक्ष तत्त्व से सिर्फ मुक्त-आत्माओं का ही ग्रहण होता है।

इस प्रकार समस्त दुःखों से छुटकारा चाहने वाले व्यक्ति को इन नौ तत्त्वों को जानना चाहिए। जानने के बाद आश्रव, पुण्य, पाप, बंध को मोक्षमार्ग में बाधक मानकर उन्हें छोड़ना चाहिए। संवर और निर्जरा को मोक्षमार्ग का साधक मानकर उनका अभ्यास करना चाहिए।

3. रत्नत्रय

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य का साध्य है—मोक्ष को प्राप्ति या आत्मोपलब्धि। आत्मा का स्वरूप है—ज्ञान, सम्यक्त्व और वीतरागता। जब तक सम्यक्त्व विकृत, ज्ञान आवृत्त और वीतरागता अप्रकटित होती है तब तक हर व्यक्ति के लिए अपनी आत्मा साध्य होती है और जब सम्यक्त्व मल रहित, ज्ञान अनावृत्त और वीतरागता प्रकट होती है तब वह स्वयं सिद्ध हो जाती है। साध्य की सिद्धि के लिए जिन हेतुओं का आलम्बन लिया जाता है, उन्हें साधन और उनके अभ्यास क्रम को साधना कहा जाता है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष के तीन मार्ग बताए हैं—सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

1. सम्यक् दर्शन,
2. सम्यक् ज्ञान,
3. सम्यक् चारित्र।

ये तीनों त्रिरत्न कहलाते हैं। लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहा जाता है। इन तीनों के योग से मोक्षमार्ग बनता है। पृथक्-पृथक् तीनों से मोक्ष-मार्ग नहीं बनता। जिस प्रकार बीमारी को दूर करने के लिए व्यक्ति दवा लेता है किन्तु वह दवा उसे तभी स्वस्थ बना सकती है जब वह ली जाने वाली दवा की क्षमता में श्रद्धा, दवा को लेने की विधि का ज्ञान तथा समय पर दवा का सेवन करता है। तीनों में से एक के भी

अभाव में वह स्वस्थ नहीं बन सकता, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए भी तीनों का योग आवश्यक है। यदि व्यक्ति में धर्म के प्रति श्रद्धा तो बहुत है पर धर्म का सही ज्ञान और उसका आचरण नहीं है तो मोक्ष नहीं मिलता। धर्म पर श्रद्धा तथा उसका सही ज्ञान होने पर भी यदि उसका आचरण नहीं है तो भी मोक्ष नहीं मिलता। श्रद्धा और ज्ञान के साथ-साथ जब उसका आचरण भी होता है तो मोक्ष-मार्ग बनता है। जैन दर्शन में केवल श्रद्धा, केवल ज्ञान या केवल चारित्र को महत्त्व नहीं दिया गया अपितु मोक्ष-प्राप्ति के लिए तीनों की समन्विति को स्वीकार किया गया है।

1. सम्यक् दर्शन

परम पुरुषार्थ मोक्ष को पाने के तीन साधन बतलाए गए हैं। उनमें पहला है—सम्यग् दर्शन। जैन दर्शन में सम्यग् दर्शन का बड़ा महत्त्व है। उत्तराध्ययन में कहा है—दर्शन विहीन व्यक्ति के ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता और चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। दर्शन सम्पन्न व्यक्ति भव परम्परा का अन्त पा लेता है। सत्य के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण, तत्त्व जिज्ञासा एवं सत्य प्राप्ति के योग्य अन्तःकरण की पवित्रता का होना ही सम्यग् दर्शन है।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—‘तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्’ तत्त्व के प्रति सही श्रद्धा का होना सम्यक् दर्शन है। इस सम्यक् दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार से होती है—निसर्गज और निमित्तज। जो किसी के उपदेश से, भगवान की प्रतिमा आदि के दर्शन से या किसी घटना विशेष के निमित्त से होता है, उसे निमित्तज सम्यक् दर्शन कहते हैं। जो उपदेश आदि के निमित्त के बिना स्वतः ही आन्तरिक शुद्धि से प्राप्त होता है, उसे निसर्गज सम्यक् दर्शन कहते हैं। निश्चय दृष्टि से कौन सम्यक् दृष्टि है या नहीं, पहचान कर पाना कठिन है। किन्तु व्यवहार में इसकी पहचान के लिए पांच लक्षण बताये गए हैं—

1. शम—जिसका कषाय उपशान्त होता है।

2. **संवेग**—जिसमें मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा होती है।
3. **निर्वेद**—जिसमें संसार के प्रति अनासक्ति होती है।
4. **अनुकम्पा**—जिसमें प्राणी मात्र के प्रति करुणा का भाव होता है।
5. **आस्तिक्य**—जिसमें सत्य के प्रति निष्ठा होती है। आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि के अस्तित्व में विश्वास होता है।
जिनमें ये पांच लक्षण पाये जाते हैं, वे सम्यक् दृष्टि होते हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ ने संघबद्ध साधना का प्राण संगठन और संगठन का प्राण सम्यक्त्व को बताया। भगवान् महावीर ने इस दृष्टि को विशेष पोषण देते हुए नवीन अष्टांग व्यवस्था की। सम्यक् दर्शन की साधना के आठ अंग हैं—

1. **निःशंकित**—सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति वीतराग सर्वज्ञ भगवान् के वचनों में संशय नहीं करता।
2. **निष्कांक्षित**—सम्यक् दृष्टि वाला व्यक्ति एकान्त दृष्टि वाले दर्शनों को स्वीकार करने की इच्छा नहीं करता। धर्माचरण के द्वारा भौतिक सुख-समृद्धि पाने की इच्छा नहीं करता।
3. **निर्विचिकित्सा**—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति धर्म के फल में संदेह नहीं करता कि मैं जो धर्म का आचरण कर रहा हूँ, उसका फल मिलेगा या नहीं।
4. **अमूढदृष्टि**—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति एकान्तवादी तीर्थियों के वैभव को देखकर उनमें मूढ़ नहीं बनता।
5. **उपबृंहण**—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति अपने सम्यक् दर्शन को और अधिक दृढ़ और पुष्ट बनाता है। प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार नहीं करता और अपने गुणों का गोपन नहीं करता।

6. **स्थिरीकरण**—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति धर्ममार्ग या न्यायमार्ग से विचलित होने वाले व्यक्तियों को पुनः धर्ममार्ग और न्यायमार्ग में स्थिर करता है।
7. **वात्सल्य**—सम्यक्दृष्टि वाला व्यक्ति अपने साधर्मिक बंधुओं के प्रति वात्सल्यभाव रखता है।
8. **प्रभावना**—सम्यक्दृष्टि व्यक्ति जिनशासन की महिमा बढ़ाता है और उसकी प्रभावना में निमित्त बनता है।

इन आठ में प्रथम चार अंग वैयक्तिक साधना के पोषक हैं और शेष चार संधीय व्यवस्था के पोषक हैं।

2. सम्यक् ज्ञान

भगवान महावीर की साधना पद्धति का केन्द्रीय शब्द है—उपयोग। उपयोग का अर्थ है—स्वयं में होना, वर्तमान में होना। जब हम उपयोग में होते हैं तब अस्तित्व अनावृत्त होता है। जीवन में जो भी मूल्यवान् उपलब्धियाँ होती हैं, वे सब ज्ञानोपयोग में होती हैं। जड़ पदार्थों को हम बुद्धि से जान सकते हैं पर चेतना को नहीं जान सकते। महावीर ज्ञानोपयोगी थे। उन्होंने ज्ञान की पवित्रता से ही चरित्र की पवित्रता को स्वीकारा और कहा—पहले जानो, फिर करो। ज्ञान सम्पन्न जीव संसार में विनष्ट नहीं होता। जिस प्रकार धागे से पिरोई सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञानयुक्त जीव संसार में विलुप्त नहीं होता। सम्यग् ज्ञान 'मैं कौन हूँ?' इस जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और अस्तित्व में लय होने के साथ समाप्त होता है।

जो ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित, यथार्थ पदार्थ का ज्ञाता एवं स्व-पर प्रकाशक है, वही सम्यग् ज्ञान है। ज्ञान के पांच प्रकार हैं—

1. मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाले ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं।

2. श्रुतज्ञान—द्रव्यश्रुत के अनुसार दूसरों को समझाने में समर्थ ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा जाता है।

3. अवधिज्ञान—मन और इन्द्रियों की अपेक्षा न रखते हुए साक्षात् आत्मा के द्वारा साक्षात् पदार्थ का ज्ञान करना अवधिज्ञान है। यह रूपी पदार्थों को ही अपने ज्ञान का विषय बनाता है।

4. मनःपर्यवज्ञान—संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को (मन के पर्यायों को) जानने वाले ज्ञान को मनःपर्यवज्ञान कहते हैं।

5. केवलज्ञान—ज्ञानावरण कर्म का निःशेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब वस्तुएँ (समस्त पर्यायों सहित) युगपत् अर्थात् एक साथ जानी जाती हैं, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

स्वाध्याय भी ज्ञान का ही एक अंग है। स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं। वे ज्ञान-साधना के पाँच उपाय हैं—

1. वाचना—श्रुत का अध्ययन, अध्यापन करना।

2. पृच्छना—अज्ञात विषय की जानकारी या ज्ञात विषय की विशेष जानकारी के लिए प्रश्न करना।

3. परिवर्तना—परिचित विषय को स्थिर रखने के लिए बार-बार दोहराना।

4. अनुप्रेक्षा—परिचित और स्थिरविषय पर चिन्तन करना।

5. धर्मकथा—स्थिरीकृत और चिन्तित विषय का उपदेश देना। अध्यात्म विषयक चर्चाएँ करना।

3. सम्यक् चारित्र

अध्यात्म साधना पद्धति में त्रिविध साधना को अधिक महत्त्व दिया गया है। तीनों का समन्वय रूप ही मोक्ष है। सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान मोक्ष के कारण हैं, फिर भी चारित्र साक्षात् कारण है। मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ अंग चारित्र है। चारित्र जैन साधना का प्राण है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में चारित्र शब्द का अर्थ 'आचरण' किया है। पहले देखना, फिर जानना तदनन्तर इन्द्रियों के विषय तथा कषायों पर विजय प्राप्त करना ही चारित्र है। पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति की साधना सम्यक् चारित्र की साधना है।

1. ईर्या समिति—जागरूकतापूर्वक चलना ईर्या समिति है।
2. भाषा समिति—विवेक पूर्वक बोलना भाषा समिति है।
3. एषणा समिति—शुद्ध आहार की गवेषणा (खोज) करना एषणा समिति है।
4. आदान-निक्षेप समिति—जागरूकतापूर्वक वस्त्र, पात्र आदि उपकरण लेना और रखना आदान-निक्षेप समिति है।
5. उत्सर्ग समिति—विवेकपूर्वक मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग करना उत्सर्ग समिति है।
6. मनोगुप्ति—मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना मनोगुप्ति है।
7. वचनगुप्ति—वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना वचनगुप्ति है।
8. कायगुप्ति—शरीर की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना कायगुप्ति है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र इस रत्नत्रय की युगपत् साधना ही मोक्षमार्ग है। किसी एक का भी अभाव होने पर व्यक्ति अपनी मंजिल तक नहीं पहुंच सकता है।

4. गुणस्थान

जैन दर्शन का मुख्य लक्ष्य है—आत्मगुणों का विकास करना। यह विकास सब जीवों में समान नहीं होता। सबमें अलग-अलग होता है। किसी में कम होता है और किसी में ज्यादा। न्यूनाधिक विकास के आधार पर इसकी चौदह अवस्थाएँ बनती हैं। ये आत्म-विकास के चौदह सोपान हैं। इन चौदह सोपानों पर क्रमशः चढ़ते-चढ़ते जब व्यक्ति अन्तिम सोपान को भी पार कर लेता है तो वह अपने आत्म-गुणों का पूर्ण विकास कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ये चौदह सोपान ही चौदह गुणस्थान हैं।

गुणस्थान की परिभाषा

गुणस्थान की अवधारणा का मुख्य आधार है—कर्म-विशोधि। गुणस्थान में दो शब्द हैं—गुण और स्थान। गुण से तात्पर्य आत्मिक गुणों से है तथा स्थान से तात्पर्य उनके क्रमिक विकास से है। इस प्रकार आत्मा की क्रमिक विशुद्धि को गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान को जीवस्थान भी कहा जाता है। जैन दर्शन के अनुसार जीव एक द्रव्य है और जो द्रव्य होता है, वह गुण से रहित नहीं होता अतः जीव द्रव्य भी ज्ञान, दर्शन आदि गुणों से युक्त है। संसारी अवस्था में कर्मावरण के कारण वे गुण आवरणित हो जाते हैं, जिससे जीव में दोष भी प्रकट हो जाते हैं, किन्तु वे कर्म जीव के गुणों को पूर्ण रूप से आवरणित नहीं कर पाते अतः जीव में कुछ गुण भी प्रकट रहते हैं। इस प्रकार संसारी अवस्था में आत्मा गुणयुक्त भी है और कर्मावरण के कारण दोषयुक्त भी है। जैसे-जैसे कर्मों का शोधन होता है, वैसे-वैसे आत्मगुणों का विकास होता है। यह आत्मगुणों का क्रमिक विकास ही गुणस्थान है।

गुणस्थान के भेद

आत्मिक गुणों के न्यूनतम विकास से लेकर सम्पूर्ण विकास की

समस्त भूमिकाओं को जैन दर्शन में चौदह भागों में बांटा गया है। पहली भूमिका में आत्मगुणों का विकास न्यूनतम होता है और अन्तिम भूमिका में उसका पूर्ण विकास हो जाता है। यह विकास आत्मा की निर्मलता-पवित्रता पर निर्भर करता है। आत्मा की निर्मलता से गुणस्थान क्रमशः ऊँचे होते जाते हैं और मलिनता से नीचे। संसार के समस्त जीव इन चौदह गुणस्थानों में विभाजित हैं। ये आध्यात्मिक विकास क्रम की चौदह अवस्थाएँ हैं—

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
2. सास्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान
3. मिश्रदृष्टि गुणस्थान
4. अविरत-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान
5. देशविरति गुणस्थान
6. प्रमत्तसंयत गुणस्थान
7. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान
8. निवृत्तिबादर गुणस्थान
9. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान
10. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान
11. उपशांतमोह गुणस्थान
12. क्षीणमोह गुणस्थान
13. सयोगीकेवली गुणस्थान
14. अयोगीकेवली गुणस्थान।

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

प्रथम गुणस्थान का नाम दर्शनमोहनीय कर्म के आधार पर मिथ्यादृष्टि रखा गया है। इसमें मोहकर्म की प्रबलतम स्थिति होने के कारण व्यक्ति का दृष्टिकोण ही विपरीत होता है। मिथ्यादृष्टि का अर्थ

है—गलत दृष्टिकोण। जिसकी तत्त्व-श्रद्धा विपरीत हो, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है और उसके गुणस्थान को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। मिथ्यादृष्टि वाले प्राणी में जिस तत्त्व के प्रति विपरीत दृष्टिकोण है, उसे गुणस्थान नहीं कहा गया है किन्तु उसमें जो थोड़ा बहुत भी सही दृष्टिकोण है, उसे गुणस्थान कहा गया है। एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति धर्म को अधर्म मान सकता है। पृथ्वी, पानी आदि जीवों को अजीव मान सकता है किन्तु स्वयं को तो जीव मानता है। मिथ्यादृष्टि व्यक्ति में स्वयं को जीव मानने की जो सही समझ है, वह उसका गुणस्थान है। प्रश्न हो सकता है कि उसकी सही समझ को मिथ्यादृष्टि क्यों कहा जाता है? इसका कारण यही है कि व्यक्ति के ज्ञान का मूल्यांकन पात्र के भेद से किया जाता है। जिस प्रकार गंगा नदी का स्वच्छ एवं पवित्र जल किसी गन्दे पात्र में डाल देने पर उसे स्वच्छ एवं पवित्र नहीं माना जाता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि की सही समझ भी मिथ्यात्व के संसर्ग से मिथ्यादृष्टि कहलाती है।

2. सास्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान

जिसकी दृष्टि सम्यक्त्व के किञ्चित् स्वाद-सहित होती है, उस व्यक्ति के गुणस्थान को सास्वादन-सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। जब किसी सम्यक्दृष्टि व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या बनता है तो वह सम्यक्दृष्टि से च्युत होकर प्रथम मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की ओर अग्रसर होता है। जब तक वह प्रथम गुणस्थान में नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी मध्यवर्ती अवस्था का नाम सास्वादन सम्यक्दृष्टि गुणस्थान है। सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर संक्रमण काल में यह स्थिति रहती है। जैन दर्शन में इसे उदाहरण से समझाया गया, जैसे—वृक्ष से फल गिरता है और जब तक वह धरती का स्पर्श नहीं करता तो उस बीच की अवस्था के समान यह द्वितीय गुणस्थान है। दूसरा उदाहरण मिलता है कि जैसे किसी ने खीर का भोजन किया और तत्काल उसे वमन हो गया। वमन हो जाने से सारी खीर बाहर निकल गई

किन्तु उस खीर का थोड़ा-सा स्वाद थोड़ी देर के लिए बना रहता है। उसी तरह सम्यक् दृष्टि जीव का दृष्टिकोण जब मिथ्या बनता है तो मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक पहुँचने के मध्य सम्यक्त्व का थोड़ा-सा स्वाद बना रहता है। अल्पकालीन आस्वाद होने के कारण इसका नाम सास्वादन-सम्यक्दृष्टि रखा गया है।

3. मिश्रदृष्टि गुणस्थान

जिसकी दृष्टि न सर्वथा सम्यग् होती है और न सर्वथा मिथ्या, किन्तु मिश्रित होती है, उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि गुणस्थान कहा जाता है। यह आत्मा की सन्देह सहित दोलायमान अवस्था है। इस श्रेणी में रहने वाला व्यक्ति न इधर का रहता है और न उधर का। जैसे शर्करा से मिश्रित दही की रसानुभूति न केवल अम्ल होती है और न केवल मधुर, किन्तु मिश्रित होती है, उसकी अम्लता और मधुरता को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता वैसे ही इस गुणस्थान में सम्यक् और मिथ्या रुचि को पृथक् नहीं किया जा सकता है। पहले गुणस्थान और इस तीसरे गुणस्थान में यह भिन्नता है कि पहले गुणस्थान वाले की दृष्टि तत्त्व के प्रति एकांत रूप से मिथ्या होती है और इस गुणस्थान वाले की दृष्टि संदिग्ध-मिश्र होती है। इसका कालमान अन्तर्मुहूर्त का है। इस गुणस्थान में स्थित आत्मा शीघ्र ही अपनी तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार या तो मिथ्यात्व अवस्था को प्राप्त हो जाती है या सम्यक्त्व अवस्था को। इसीलिए इसका स्थान तीसरा रखा गया है। इसे पारकर व्यक्ति सम्यक्त्वी बन सकता है।

4. अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

इस चतुर्थ गुणस्थान में दृष्टिकोण पूर्णतः सम्यक् बन जाता है। इस दृष्टि वाला सही को सही और गलत को गलत समझता है, किन्तु वह किसी प्रकार का व्रत स्वीकार नहीं कर सकता अतः इसका

नाम अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। यहाँ से आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ होता है। आत्मा और शरीर की भिन्नता का बोध होता है। मोक्ष की ओर अग्रसर होने की चेष्टा शुरू हो जाती है।

5. देशविरति गुणस्थान

इस पंचम गुणस्थान में व्यक्ति की आत्मिक शक्ति विकसित होती है। वह पूर्णरूप से व्रतों की आराधना नहीं कर सकता किन्तु आंशिक रूप से व्रतों को स्वीकार करता है, जैसे—वह पूर्ण अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि महाव्रत को स्वीकार नहीं कर सकता किन्तु छोटी-छोटी हिंसा का त्याग कर अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार करता है। बड़ा झूठ बोलने और चोरी करने का त्याग कर सत्य अणुव्रत, अचौर्य अणुव्रत आदि को स्वीकार करता है। आंशिक रूप से व्रतों को स्वीकार करने वालों को जैन आचारशास्त्र में उपासक या श्रावक कहा जाता है। इसमें अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का आचरण प्रारम्भ हो जाता है।

6. प्रमत्त-संयत गुणस्थान

इसका दूसरा नाम सर्वविरति गुणस्थान भी है। इसमें साधक आंशिक व्रत से पूर्ण व्रत की ओर जाता है। उसका व्रत अणुव्रत न कहलाकर महाव्रत कहलाता है और वह श्रावक न कहलाकर श्रमण-साधू कहलाता है। इसमें अहिंसा, सत्य आदि के आचरण का पूर्ण संकल्प होता है। पूर्ण संयमी जीवन को स्वीकार करने के बाद भी उसमें प्रमाद रहता है, जिसके कारण वह कभी-कभी दोषों का भी सेवन कर लेता है अतः इस गुणस्थान का नाम प्रमत्त-संयत गुणस्थान रखा गया है। साधक अपनी आध्यात्मिक परिस्थिति के अनुसार इस गुणस्थान से ऊपर भी उठ सकता है और नीचे भी गिर सकता है। यह गुणस्थान श्रमण में पाया जाता है।

7. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान

सातवें गुणस्थान में प्रमाद छूट जाता है। हर क्षण आत्मा के प्रति जागरूकता बनी रहती है। अप्रमादी साधु के गुणस्थान को अप्रमत्त-संयत गुणस्थान कहते हैं। इसकी स्थिति बहुत लम्बे समय तक नहीं रहती। प्रमादजन्य वासनाएँ बीच-बीच में प्रकट होती रहती हैं, जिसके कारण वह पुनः प्रमादावस्था में चला जाता है। इसलिए ऊर्ध्वारोहण करने वालों को छोड़कर छोटे-सातवें गुणस्थान का क्रम बदलता रहता है। अन्तर्मुहूर्त के बाद वह छोटे गुणस्थान में चला जाता है।

8. निवृत्तिबादर गुणस्थान

जिसमें स्थूल कषाय की निवृत्ति होती है अर्थात् कषाय थोड़े रूप में उपशांत या क्षीण होते हैं, उसे निवृत्ति बादर गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में आत्मा स्थूल रूप में कषायों—क्रोध, मान, माया, लोभ से मुक्त हो जाती है।

9. अनिवृत्तिबादर गुणस्थान

जिसमें स्थूल कषाय की अनिवृत्ति होती है अर्थात् कषाय थोड़ी मात्रा में शेष रहता है, उसे अनिवृत्ति बादर कहा जाता है। इस अवस्था में आत्मा कषाय से प्रायः निवृत्त हो जाती है। आठवें गुणस्थान में कषाय की निवृत्ति थोड़ी मात्रा में होती है, इसलिए उसे निवृत्तिबादर कहा गया है। नवें गुणस्थान में कषाय थोड़ी मात्रा में शेष रहता है, इसलिए इसे अनिवृत्तिबादर कहा गया है। आठवें गुणस्थान का नाम, जो कषाय निवृत्त हुआ है, उसके आधार पर किया गया है।

10. सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान

यहां सम्पराय का अर्थ है—लोभ-कषाय, जिसमें लोभ-कषाय का सूक्ष्म अंश विद्यमान होता है, उसके गुणस्थान को सूक्ष्म-सम्पराय

गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान में क्रोध, मान, माया—ये तीन कषाय तो सर्वथा उपशांत या क्षीण हो जाते हैं। सिर्फ लोभ-कषाय अल्प मात्रा में रहता है।

11. उपशांतमोह गुणस्थान

जिसका मोह अंतर्मुहूर्त्त के लिए सर्वथा उपशांत हो जाता है, उसके गुणस्थान को उपशांतमोह गुणस्थान कहा जाता है। दसवें गुणस्थान में जो सूक्ष्म लोभ शेष था, उस लोभ का यहां उपशम हो जाता है, किन्तु वह पूर्ण रूप से नष्ट नहीं होता। जैसे राख से ढके हुए अंगारे बुझे हुए से प्रतीत होते हैं, किन्तु थोड़ी-सी हवा से वे अंगारे पुनः जल उठते हैं, उसी प्रकार इस गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त्त तक मोह उपशम-शांत रहता है पर पुनः निमित्त मिलने पर वह प्रकट हो जाता है।

12. क्षीणमोह गुणस्थान

जिसका मोहकर्म सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसके गुणस्थान को क्षीण-मोह गुणस्थान कहा जाता है। मोह के सर्वथा क्षीण होते ही आत्मा पूर्ण वीतराग हो जाती है।

जैन दर्शन के अनुसार आठवें गुणस्थान से दो श्रेणियाँ निकलती हैं—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी। जो साधक मोहकर्म का उपशम करते हुए आगे बढ़ते हैं, उनकी श्रेणी उपशमश्रेणी कहलाती है और जो साधक मोहकर्म का क्षय करते हुए आगे बढ़ते हैं, उनकी श्रेणी क्षपकश्रेणी कहलाती है। उपशमश्रेणी से आगे बढ़ने वाला ग्यारहवें गुणस्थान में मोह को सर्वथा उपशम-शांत कर देता है। किन्तु अन्तर्मुहूर्त्त के बाद मोह का पुनः उदय होने से वह इस गुणस्थान से च्युत होकर नीचे के गुणस्थानों की ओर गतिशील होता है। बीच में ही संभल जाने पर छठे, पांचवें, चौथे किसी भी गुणस्थान में स्थिर हो सकता है और न संभल पाने पर पहले गुणस्थान तक भी पहुंच सकता है।

क्षपकश्रेणी से आगे बढ़ने वाला साधक मोहकर्म को क्षीण-क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है और दसवें गुणस्थान के बाद वह सीधा बारहवें गुणस्थान में प्रवेश कर मोहकर्म का सर्वथा क्षय कर देता है।

13. सयोगीकेवली गुणस्थान

केवलज्ञान प्राप्त होने पर भी जो केवली मन, वचन और काया के योग-प्रवृत्ति से युक्त होता है, उसके गुणस्थान को सयोगीकेवली गुणस्थान कहते हैं। इस अवस्था में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातिकर्म सर्वथा क्षीण हो जाते हैं। आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति रूप आत्म-स्वभाव प्रकट हो जाता है।

14. अयोगीकेवली गुणस्थान

जो केवली अयोगी—मन, वचन और काय की प्रवृत्ति से रहित होता है, उसके गुणस्थान को अयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है। इस गुणस्थान का स्थितिकाल अत्यन्त अल्प होता है। जितना समय पांच ह्रस्व स्वरों अ, इ, उ, ऋ, लृ को मध्यम स्वर से उच्चारित करने में लगता है, उतने ही समय तक इस गुणस्थान में आत्मा रहती है। तत्पश्चात् वह अनादिकालीन कर्म-बन्धन को तोड़कर सर्वथा मुक्त हो जाती है। उसका संसारी जीवन समाप्त हो जाता है। जन्म-मरण की परम्परा का अन्त हो जाता है।

गुणस्थानों का कालमान

प्रथम गुणस्थान का कालमान अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त होता है। अभव्य प्राणी—जिनमें कभी भी मोक्ष जाने की योग्यता नहीं होती—अनादि काल से मिथ्यादृष्टि हैं और अनन्तकाल तक मिथ्यादृष्टि ही रहेंगे। अभव्य प्राणी की अपेक्षा से पहले गुणस्थान

का समय अनादि-अनन्त बताया गया है। भव्य प्राणी जिनमें मोक्ष जाने की योग्यता है, पर अभी तक उन्होंने सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं की है अतः अनादि काल से वे मिथ्यादृष्टि हैं पर भविष्य में वे सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं, तब उनका मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त हो जाएगा, अतः भव्य प्राणी की अपेक्षा से इसे अनादि और सान्त कहा गया है। सम्यक्दृष्टि प्राप्त व्यक्ति पुनः मिथ्यादृष्टि को भी प्राप्त कर सकता है और मिथ्यादृष्टि के बाद पुनः सम्यक्दृष्टि को भी प्राप्त कर सकता है। इस अपेक्षा से इसे सादि-सान्त कहा गया है।

दूसरे गुणस्थान का कालमान छः अवलिका है।

चौथे गुणस्थान का उत्कृष्ट कालमान तैंतीस सागर से कुछ अधिक है।

पांचवें, छठे और तेरहवें गुणस्थान का उत्कृष्ट कालमान कुछ कम करोड़ पूर्व है।

चौदहवें गुणस्थान का कालमान पांच ह्रस्वाक्षर—अ, इ, उ, ऋ, लृ उच्चारण मात्र है।

शेष गुणस्थानों का कालमान अन्तर्मुहूर्त है।

इस प्रकार मोहनीय कर्म की प्रबलता और निर्बलता पर ही इन चौदह गुणस्थानों का निर्माण होता है। जितना-जितना मालिन्य हटता है, उतनी-उतनी आत्म-विशुद्धि होती है और इसी विशुद्धि का नाम गुणस्थान है। प्रथम और तृतीय गुणस्थान अध्यात्म-विकास के न्यूनतम स्थान हैं। द्वितीय गुणस्थान में भी अपक्रमण होता है। चतुर्थ गुणस्थान से क्रमिक ऊर्ध्वरोहण प्रारम्भ होता है और चौदहवें गुणस्थान में आत्मा की पूर्ण विशोधि हो जाती है। विशुद्ध आत्मा की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है। अतः मुक्त आत्मा एक समय में लोक के अन्तिम भाग पर जाकर स्थिर हो जाती है। धर्मास्तिकाय का अभाव होने से उसके आगे गति नहीं होती। मुक्त आत्मा में कोई गुणस्थान नहीं होता।

5. षडावश्यक

‘आवश्यक सूत्र’ जैन साधना का मूल प्राण है। यह आत्मशुद्धि और दोष-परिमार्जन की प्रक्रिया है। जिस प्रकार किसी स्थान या वस्तु का सावधानी पूर्वक परिमार्जन (सफाई) न किया जाये तो उस स्थान या वस्तु पर मैल की परतें जम जाती हैं, उसी प्रकार प्रमादवश हुए दोषों का यदि परिमार्जन (शुद्धि) न किया जाये तो हमारी आत्मा भी मलिन बन जाती है। आवश्यकसूत्र दोष-परिमार्जन और आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है।

आवश्यक का अर्थ

‘आवश्यक’ जैन आचार मीमांसा का एक प्रमुख अंग है। ‘अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम्’ जो अवश्य करणीय है उसे आवश्यक कहा जाता है। जैसे वैदिक परम्परा में ‘सन्ध्या’ है, बौद्ध परम्परा में ‘उपासना’ है, यहूदी और ईसाइयों में ‘प्रार्थना’ है, इस्लाम धर्म में ‘नमाज’ है, वैसे ही जैन धर्म में दोषों की शुद्धि और गुणों की वृद्धि के लिए आवश्यक सूत्र है। यह आत्मा को दुर्गुणों से हटाकर सद्गुणों की ओर ले जाता है तथा गुणों से शून्य आत्मा को गुणों से युक्त करता है। जैन आचार में श्रमण और श्रावक दोनों के लिए ही इसे अवश्य करणीय बताया गया है। श्रमण के लिए तो प्रातःकाल और सायंकाल दोनों ही समय यह अवश्य करणीय है, इसका कोई अपवाद नहीं है। श्रावक के लिए भी यह अवश्य करणीय है, किन्तु जिनके लिए प्रतिदिन यह संभव नहीं हो सकता वे पक्ष के अंत में पाक्षिक, चातुर्मास के अंत में चातुर्मासिक और वर्ष के अंत में सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करते हैं।

आवश्यक के अंग

आवश्यक की साधना उसके छह अंगों के द्वारा की जाती है, इसलिए इसे षडावश्यक कहा जाता है। आवश्यक के छह अंग

निम्नलिखित हैं—

1. सामायिक—समभाव की साधना करना।
2. चतुर्विंशतिस्तव—चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करना।
3. वंदना—सद्गुरुओं को नमस्कार करना।
4. प्रतिक्रमण—दोषों की आलोचना करना।
5. कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व का त्याग करना।
6. प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग करना।

षडावश्यक के क्रम की वैज्ञानिकता

षडावश्यक के इन सभी अंगों का क्रम वैज्ञानिक ढंग से रखा गया है। सबसे पहला आवश्यक है—सामायिक। समभाव की साधना से जब चित्तवृत्ति स्वच्छ हो जाती है तभी व्यक्ति तीर्थकरों की स्तुति कर सकता है और उनके गुणों में लीन हो सकता है, अतः सामायिक के बाद दूसरा क्रम चतुर्विंशतिस्तव का रखा गया है। तीर्थकरों की स्तुति से उसके मन में भक्तिभाव पैदा होता है और वह गुरुजनों, मुनिजनों के चरणों में वंदन-नमस्कार करता है। वंदना करने से विनम्रता बढ़ती है तथा सरलता आती है। सरल व्यक्ति ही अपने कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अतः वंदना के बाद प्रतिक्रमण का क्रम रखा गया है। अतीत के दोषों की शुद्धि हो जाने के बाद ही तन और मन की स्थिरता सध सकती है अतः प्रतिक्रमण के बाद कायोत्सर्ग का विधान किया गया है। मन की चंचलता दूर होने पर ही व्यक्ति प्रत्याख्यान कर सकता है। चंचल मन से प्रत्याख्यान (त्याग) कर पाना संभव नहीं है। अतः कायोत्सर्ग के बाद ही प्रत्याख्यान का क्रम दिया गया है। इस प्रकार इन छः आवश्यकों का क्रम कारण-कार्यभाव की शृंखला पर आधारित होने से पूर्ण वैज्ञानिक क्रम है। इन छहों आवश्यक का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

1. सामायिक

छः आवश्यक में प्रथम आवश्यक है—सामायिक। सामायिक श्रमण और श्रावक दोनों के लिए अवश्य करणीय है। यह समभाव की साधना है। समभाव की साधना के लिए आवश्यक है सावद्य (पापकारी) प्रवृत्तियों से विरत होना। श्रमण जीवनभर के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता है। श्रावक जीवनभर के लिए सावद्ययोग का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। वह सामायिक का अभ्यास करता है। एक सामायिक का कालमान 48 मिनट है। वह एक मुहूर्त (48 मिनट) के लिए सावद्ययोग से विरत रहने का संकल्प करता है। अठारह पाप सावद्ययोग हैं। इन अठारह पापों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

पहला वर्ग—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह।

दूसरा वर्ग—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष।

तीसरा वर्ग—कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति।

चौथा वर्ग—माया-मृषा और मिथ्यादर्शन शल्य।

इनका विवेचन नौ तत्त्वों में 'पाप तत्त्व' के अन्तर्गत किया गया है।

व्यक्ति जब पापमय व्यापारों का परित्याग कर समभाव में अवस्थित होता है, तभी सामायिक होती है। अतः सामायिक करते समय साधक के समक्ष एक मानसिक चित्र बना रहना चाहिए कि मुझे इन अठारह पापों का सेवन नहीं करना है। हर परिस्थिति में समभाव रखना है। सामायिक के समय स्वाध्याय, ध्यान, अनुप्रेक्षा, जप आदि के प्रयोग करने चाहिए तथा सामायिक के दोषों से बचना चाहिए।

सामायिक के दोष

सामायिक के कुल 32 दोष बताये गये हैं। 10 मन के दोष हैं, 10 वचन के दोष हैं और 12 काया के दोष हैं।

मन के दोष—मन में यश-कीर्ति की भावना से सामायिक करना, अपने आपको धार्मिक दिखाने की भावना से सामायिक करना, मैं उच्च कुल का हूँ, यदि सामायिक नहीं करूँगा तो लोग क्या कहेंगे इस भय से सामायिक करना, मैं सामायिक कर रहा हूँ, इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं मिलेगा इस संशय से सामायिक करना आदि मन के दोष हैं।

वचन के दोष—सामायिक में कुत्सित वचनों का प्रयोग करना, कलह उत्पन्न करने वाले वचनों का प्रयोग करना, सामायिक के पाठ को अशुद्ध बोलना, बिना विचारे सहसा असत्य वचन बोलना आदि वचन के दोष हैं।

काया के दोष—सामायिक में अस्थिर होकर बैठना, पापकारी प्रवृत्तियाँ करना, दीवार का सहारा लेकर आराम से बैठना, बैठे-बैठे हाथ-पैर फैलाना, शरीर से मैल उतारना, शोकग्रस्त मुद्रा में बैठना, सामायिक में नींद लेना आदि काया के दोष हैं।

सामायिक का महत्त्व

जैन धर्म में सामायिक (समभाव) की साधना को उत्कृष्ट साधना माना गया है। इसे चौदह पूर्वों का सार या सम्पूर्ण जिनवाणी का सार कहा गया है। जिस प्रकार दूध का सार घी, तिल का सार तेल है उसी प्रकार साधना का सार सामायिक है। आचारांग सूत्र में समता को सबसे बड़ा धर्म बताया गया है। एक घंटे तक सामायिक की साधना करने वाला श्रावक भी उतने समय के लिए श्रमणवत् (साधु) हो जाता है।

2. चतुर्विंशतिस्तव

षडावश्यक में दूसरा आवश्यक चतुर्विंशतिस्तव है। प्रथम सामायिक आवश्यक में साधक समस्त सावद्ययोगों का त्याग कर देता

है किन्तु चंचल मन को स्थिर करने के लिए उसे किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। आत्म-साधक के लिए वीतराग तीर्थकर देव ही सर्वश्रेष्ठ आलम्बन हैं, क्योंकि उसका ध्येय भी वीतरागता है। ऋषभ से लेकर महावीर तक चौबीस तीर्थकरों की स्तुति करना चतुर्विंशतिस्तव नामक दूसरा आवश्यक है।

जैन दर्शन के अनुसार केवल तीर्थकरों की स्तुति से मोक्ष या समाधि की प्राप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं प्रयास न करे। तीर्थकर तो साधना-मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है किन्तु प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जब तक जहाज गति नहीं करता, वह उस पार नहीं पहुँच सकता। उसी प्रकार तीर्थकर साधना करने वाले साधक का मार्ग प्रशस्त करने वाले प्रकाश-स्तम्भ हैं।

स्तुति (स्तव) के भेद

मन, वचन और काय के भेद से स्तुति के तीन भेद हैं—

मन से चौबीस तीर्थकरों के गुणों का स्मरण करना मनस्तव है।

वचन से लोगस्स उज्जोयगरे..... का उच्चारण कर तीर्थकरों की स्तुति बोलना वचनस्तव है।

हाथ जोड़कर तीर्थकर भगवान को नमस्कार आदि करना कायकृतस्तव है।

स्तुति के लाभ

तीर्थकरों की स्तुति करने से अनेक लाभ होते हैं। स्तुति से दर्शन विशुद्धि होती है। दर्शन विशुद्धि होने से भावों की शुद्धि और मन की निर्मलता बढ़ती है। तीर्थकर जैसा बनने की प्रेरणा मन में जागती है।

3. वंदना

तीसरा आवश्यक वंदना है। साधना के आदर्श रूप तीर्थंकर होते हैं, किन्तु साधनामार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु होते हैं। गुरु के प्रति विनय करना वंदना आवश्यक है। यह मन, वचन, काय की वह प्रशस्त वृत्ति है, जिसमें साधक आचार्य, गुरु, ज्येष्ठ श्रमणों के प्रति श्रद्धा और बहुमान प्रकट करता है। गुरु वही होता है, जिसका चरित्र उत्कृष्ट होता है, जो सचमुच वन्दनीय होता है।

वंदना विधि—जिन आचार्य, श्रमण आदि को वन्दना की जाती है, उनमें तथा वन्दनकर्त्ता के मध्य एक हाथ का अन्तराल होना चाहिए। फिर वन्दनकर्त्ता को अपने मस्तक से गुरु, आचार्य आदि के चरणों में बाधा न पहुंचाते हुए वन्दन करना चाहिए। जिस वंदन में भक्ति और श्रद्धा नहीं होती केवल प्रलोभन और प्रतिष्ठा की भावना होती है, वह द्रव्य वंदन है। यह कभी-कभी कर्मबंधन का कारण बन जाता है। भय और प्रलोभन से रहित हो पवित्र और निर्मल भावना के साथ वंदन करना ही भाव वंदन है। इससे कर्मों की निर्जरा होती है।

वंदना के लाभ

वंदना करने से अहंकार का नाश होता है और विनय की प्राप्ति होती है। शुद्ध भावों से वंदना करने पर नीच गोत्र का क्षय और उच्च गोत्र का बंधन होता है। वंदना करने वाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है।

4. प्रतिक्रमण

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है, दूसरों से करवाया जाता है अथवा करने वालों का अनुमोदन किया जाता है, इन सबकी निवृत्ति के लिए अपने कृतपापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण को स्पष्ट करते हुए कहा गया—

स्वस्थानात् यत् परस्थानं प्रमादवशातो गतः।

तत्रैव क्रमणंभूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥

व्यक्ति प्रमाद के कारण अपने स्वभाव—क्षमा, मैत्री, करुणा आदि का छोड़कर परभाव—क्रोध, मान आदि में चला गया हो तो उस परभाव से पुनः अपने स्वभाव में लौटने का नाम प्रतिक्रमण है। यह आत्मशुद्धि की साधना है। अशुभ से शुभ की ओर लौटने की साधना है।

श्रमण और श्रावक के द्वारा अपने स्वीकृत व्रतों में किसी भी प्रकार की स्खलना हो गई हो तो प्रतिक्रमण के द्वारा वह उसकी शुद्धि करता है।

प्रतिक्रमण के भेद

प्रतिक्रमण के दो प्रकार बताये गए हैं—द्रव्य प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण। द्रव्य प्रतिक्रमण में साधक बिना किसी भावना के यंत्रवत् उच्चारण करता रहता है। कृत दोषों के प्रति मन में ग्लानि के भाव नहीं होते और भविष्य में भी पुनः पुनः उन्हीं दोषों का सेवन करता रहता है।

भाव प्रतिक्रमण में साधक के मन में अपने कृत दोषों के प्रति गहरी ग्लानि होती है। वह चिन्तन करता है—मैंने इस प्रकार की स्खलनाएँ क्यों की? भविष्य में उन्हें पुनः न दोहराने का दृढ़ संकल्प करता है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच प्रकार बताये गए हैं—
1. दैवसिक, 2. रात्रिक, 3. पाक्षिक, 4. चातुर्मासिक और 5. सांवत्सरिक।

दैवसिक—प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिन में आचरित पापकर्म का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है।

रात्रिक—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण रात्रि में आचरित पापकर्म का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

पाक्षिक—पक्ष के अन्त में पूर्णिमा और अमावस्या के दिन सम्पूर्ण पक्ष (15 दिन) में आचरित पापों का विचार कर उसकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक—कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढी पूर्णिमा को चार महीने में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

सांवत्सरिक—प्रत्येक वर्ष संवत्सरी महापर्व के दिन वर्षभर के पापों का चिन्तन कर उसकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का प्रयोजन

प्रतिक्रमण भाव-परिष्कार का एक बहुत अच्छा प्रयोग है। इसके तीन चरण हैं—

1. अइयं पडिक्कमामि—अतीत का प्रतिक्रमण करना।
2. पडुपुण्णं संवरेमि—वर्तमान का संवर करना।
3. अणागयं पच्चक्खामि—भविष्य का प्रत्याख्यान करना।

अतीत का प्रतिक्रमण—प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि मन में कभी बुरे भाव न आएँ पर निमित्त मिलते ही बुरे भाव आ जाते हैं। बुरे भावों से बचने के लिए अतीत के संस्कारों का प्रतिक्रमण करना आवश्यक है। जब तक अतीत का प्रतिक्रमण नहीं होता, उनका शोधन नहीं होता तब तक भाव-परिष्कार की दिशा में गति नहीं होती।

वर्तमान का संवर—अतीत का प्रतिक्रमण होने पर भी जब तक वर्तमान का संवर नहीं होता, तब तक मलिनता पुनः आती रहती

है। जिस प्रकार दरवाजा खुला छोड़ देने पर साफ कमरे में आंधी की रेत आती रहती है। अतः वर्तमान का संवर करना आवश्यक है।

भविष्य का प्रत्याख्यान—अतीत का शोधन और वर्तमान का संवर हाने पर भी यदि भविष्य के लिए प्रत्याख्यान नहीं होता तो शोधन और संवर सुरक्षित नहीं रह सकता।

कायोत्सर्ग

पांचवां आवश्यक कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग करना। जीवित रहते हुए शरीर का त्याग करना संभव नहीं है अतः यहां शरीर के त्याग का तात्पर्य—शारीरिक चंचलता और शरीर के प्रति होने वाली आसक्ति का त्याग करना है। जैन साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां प्रत्येक अनुष्ठान से पूर्व कायोत्सर्ग करने का विधान है।

दैनिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में जिस-जिस काल में जितना-जितना कायोत्सर्ग करने का विधान है, उस काल का अतिक्रमण किये बिना कायोत्सर्ग करना ही कायोत्सर्ग आवश्यक है। इसमें आसन, प्राणायाम और ध्यान—तीनों की साधना एक साथ होती है।

कायोत्सर्ग में साधक बिल्कुल स्थिर रहता है। उस समय देव, मानव और तिर्यच संबंधी कोई भी उपसर्ग (विघ्न-बाधा) उपस्थित होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करता है।

6. प्रत्याख्यान

षडावश्यक का छठा अंग प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का अर्थ है—त्याग करना। इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक तत्त्व है। प्रमादपूर्वक किये गए भूतकालीन दोषों का

परिमार्जन करना प्रतिक्रमण कहलाता है तथा भविष्यकाल में उस अशुभ प्रवृत्ति को न दोहराने का संकल्प करना प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं—द्रव्य प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान। आहार, वस्त्र आदि बाह्य पदार्थों में से किसी पदार्थ का त्याग करना द्रव्य प्रत्याख्यान है। राग-द्वेष, कषाय आदि अशुभ मानसिक वृत्तियों का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

प्रत्याख्यान से साधक अशांति के मूल कारण आसक्ति और तृष्णा को नष्ट करता है। सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मशुद्धि हो जाती है, किन्तु भविष्य में पुनः आत्मा मलिन न बने इसके लिए प्रत्याख्यान अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार वस्त्र को स्वच्छ करने के बाद पुनः वह मलिन न बने इसलिए उसे आलमारी में रखते हैं उसी प्रकार मन में मलिनता न आये, इसलिए प्रत्याख्यान करते हैं।

इस प्रकार षडावश्यक साधक के लिए अवश्य करणीय क्रिया है। यह सम्पूर्ण अध्यात्मयोग की साधना है।

6. दस धर्म

जैन दर्शन में विविध दृष्टियों से धर्म पर विचार किया गया है पर यहां धर्म से तात्पर्य मानव के विचार और आचार को विशुद्ध बनाने वाले तत्त्व से है। इस दृष्टि से आध्यात्मिक विकास (मोक्ष) की ओर ले जाने वाली समस्त क्रियाएँ धर्म हैं। जैन सिद्धान्त दीपिका में भी 'आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः' आत्मशुद्धि के साधनों को धर्म कहा गया है। दसवैकालिक सूत्र में अहिंसा, संयम और तप से युक्त धर्म को उत्कृष्ट मंगल माना गया है। धर्म वह तत्त्व है, जो प्राणियों को संसार के दुःख से उठाकर उत्तम सुख को धारण कराता है। धर्म के महत्त्व को बताते हुए कहा गया—जन्म और मृत्यु के तेज प्रवाह में बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही एकमात्र द्वीप है, शरण है।

धर्म के प्रकार

आत्मशुद्धि के साधन का धर्म कहते हैं। वे साधन अनेक हो सकते हैं, इस दृष्टि से धर्म के भी अनेक प्रकार बताये गए हैं। संक्षेप में एक अहिंसा धर्म है और विस्तार में जाएं तो दस धर्म हो जाते हैं—

- | | | |
|-----------------|-----------|----------|
| 1. क्षमा | 2. मुक्ति | 3. आर्जव |
| 4. मार्दव | 5. लाघव | 6. सत्य |
| 7. संयम | 8. तप | 9. त्याग |
| 10. ब्रह्मचर्य। | | |

इन दस धर्मों को उत्तम धर्म कहा जाता है। ये दस धर्म उत्तम धर्म कहलाने योग्य तभी होते हैं जब ये आत्मशुद्धिकारक तथा पापनिवारक होते हैं। इन दस धर्मों का विधान श्रमण के लिए किया गया है क्योंकि श्रमणों के द्वारा ये निश्चित रूप से आचरणीय होते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि ये दूसरों के लिए आचरणीय नहीं हैं। सम्यक्दृष्टि श्रावकों को भी संवर और निर्जरा की साधना के लिए इन क्षमा आदि धर्मों का पालन करना चाहिए।

1. क्षमा

दस धर्मों में प्रथम धर्म क्षमा है। क्रोध आदि की उत्पत्ति के साक्षात् कारण उपस्थित होने पर अल्पमात्र भी क्रोध नहीं करना तथा मन में भी क्रोध के भाव नहीं लाना उत्तम क्षमा है। जैन परम्परा में अपराधी को भी क्षमा करना तथा अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगना साधक का परम कर्तव्य माना गया है। जैन श्रमण प्रतिदिन यह उद्घोष करता है—

खामेमि सब्ब जीवे, सब्बे जीवा खमंतु मे।
मिती मे सब्बभूएसु, वेरं मज्झ न केणई।।

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, वे सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरा सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव है, किसी के साथ भी मेरा वैर नहीं है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। व्यक्ति क्रोध, रोष, आवेश के कारण क्षमा रूपी आत्म-स्वभाव को भूल जाता है, जिसके कारण वह क्षमा के उत्तम अवसर को चूक जाता है।

क्षमा, तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोधनिग्रह आदि शब्द एकार्थक हैं। दसवैकालिक सूत्र में मुनि के लिए कहा गया—‘पृथ्वीसमे मुणी हवेज्जा’। मुनि पृथ्वी के समान सहनशील हो। पृथ्वी को कोई खोदता है, कोई उस पर थूकता है, कोई मलोत्सर्ग गंदगी फैलाता है तो कोई पृथ्वी को माता समझकर मस्तक झुकाता है। पृथ्वी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को समभाव से सहन करती है। उसी प्रकार मुनि भी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति को समभावपूर्वक सहन करे।

2. मुक्ति

दस धर्मों में दूसरा धर्म मुक्ति है। मुक्ति का अर्थ है—निर्लोभता। शरीर और पदार्थ जगत् के प्रति अनासक्ति। इसका दूसरा नाम शौच भी उपलब्ध होता है। ‘शुचेर्भावः शौचम्’ सामान्यतया शौच का अर्थ दैहिक पवित्रता से लिया जाता है, किन्तु जैन परम्परा में शौच का अर्थ मानसिक पवित्रता से लिया गया है। इसका संबंध लोभ कषाय से है। लोभ के कारण व्यक्ति की पवित्रता नष्ट होती है। चित्त कलुषित बनता है। लोभ के कारण व्यक्ति की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती। व्यक्ति जीर्ण-शीर्ण हो सकता है किन्तु तृष्णा जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। तृष्णा जीर्ण होने पर ही मोक्ष का द्वार खुलता है। मुक्ति धर्म की साधना से चित्त की शुद्धि होती है, तृष्णा समाप्त होती है अतः शरीर और पदार्थ जगत् के प्रति आसक्ति न रखना ही उत्तम मुक्ति या शौच धर्म है।

3. आर्जव

क्षमा और मुक्ति की भांति आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। 'ऋजोर्भावः आर्जवम्' ऋजुता अर्थात् सरलता का भाव ही आर्जव है। मन, वचन और काय से कपटपूर्ण भावों का सर्वथा अभाव तथा ऋजु (सरल) भावों का सद्भाव आर्जव धर्म है।

माया के कारण व्यक्ति में जटिलता, कुटिलता आती है। मायावी व्यक्ति सोचता कुछ है, बोलता कुछ है और करता कुछ है। उसके मन, वचन, काया में एकरूपता नहीं रहती। उसका व्यवहार वक्र (टेढ़ा) होता है। सरलता और वक्रता को लेकर ठाणं सूत्र में चार विकल्प बनाये गए हैं—

- ◆ कुछ व्यक्ति बाहर से सरल पर भीतर से वक्र होते हैं।
- ◆ कुछ व्यक्ति बाहर से वक्र पर भीतर से सरल होते हैं।
- ◆ कुछ व्यक्ति बाहर से वक्र और भीतर से भी वक्र होते हैं।
- ◆ कुछ व्यक्ति बाहर से सरल और भीतर से भी सरल होते हैं।

इनमें चौथा विकल्प ही अनुकरणीय है। हमें भीतर और बाहर दोनों से सरल बनने का प्रयास करना चाहिए। उत्तम आर्जव की प्राप्ति के लिए चार बातें अनिवार्य हैं—काया की ऋजुता, भाषा की ऋजुता, भावों की ऋजुता और त्रिविध योगों की अविसंवादिता (एकरूपता)।

ऋजुता (सरलता) से व्यक्ति माया पर विजय प्राप्त कर आर्जव धर्म को प्राप्त करता है। आर्जव धर्म को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अनाचार का सेवन करके उसे छुपाता नहीं है और न ही अस्वीकार करता है, क्योंकि वह मानता है कि गलती होना इन्सान का स्वाभाविक लक्षण है। गलती करके उसे स्वीकार करना आर्जव धर्म है। इस प्रकार आर्जव धर्म की साधना पवित्रता की साधना है।

4. मार्दव

दस धर्मों में चौथा धर्म है—मार्दव। आर्जव की भांति मार्दव भी आत्मा का निज स्वभाव है। 'मृदोर्भाविः मार्दवम्' मार्दव का अर्थ है—मृदुता, कोमलता। मान कषाय के कारण व्यक्ति की मृदुता समाप्त हो जाती है, जिससे वह अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझने लगता है। जैन परम्परा में जाति, बल, कुल, रूप, तप, ज्ञान, ऐश्वर्य और सत्ता—ये आठ मद माने गए हैं। इनके कारण व्यक्ति के भीतर अहंकार पैदा होता है। उत्तम ज्ञान, तप, बल आदि होने पर भी अपनी आत्मा को मान कषाय से मलिन न होने देना ही उत्तम मार्दव है।

मार्दव धर्म की प्राप्ति के लिए पहली शर्त है शरीर आदि पर-पदार्थों के प्रति एकत्व बुद्धि को छोड़ना। शरीर के साथ एकत्व बुद्धि होने पर ही जाति, कुल, बल आदि का अहंकार आता है। मार्दव धर्म के प्रकटीकरण के लिए मन, वचन और शरीर—तीनों में मृदुता होना आवश्यक है। मन से मृदु होने पर वैचारिक कठोरता नष्ट होती है। वचन से मृदु होने पर व्यक्ति सबके लिए प्रिय बनता है। शरीर से मृदु होने पर व्यक्ति किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाता।

इस प्रकार साधक मार्दव धर्म की साधना से मान कषाय पर विजय प्राप्त करता है।

5. लाघव

लाघव का अर्थ है—हल्कापन। इसका दूसरा नाम अकिंचन धर्म भी है। जब तक व्यक्ति बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग कर अकिंचन नहीं बनता तब तक लाघव धर्म की साधना संभव नहीं हो पाती। अकिंचन का अर्थ है—धन, धान्य, शरीर आदि बाह्य परिग्रह तथा कषाय, कर्म आदि आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना।

इनके प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग करना। जिस प्रकार भारी चीज को तालाब में फेंकने पर वह नीचे डूब जाती है तथा हल्की चीज सदैव सतह पर तैरती रहती है। उसी प्रकार जो व्यक्ति परिग्रह के भार से, उसके प्रति मूर्च्छा और आसक्ति के भार से भारी होता है। वह संसार में डूबा रहता है तथा इनसे रहित व्यक्ति संसार से मुक्त होता है।

जीवन को चलाने के लिए परिग्रह को पूर्ण रूप से नहीं छोड़ा जा सकता। वस्त्र, पात्र, उपकरण आदि आवश्यक परिग्रह (वस्तुएँ) रखना होता है। परिग्रह की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए जैन दर्शन में कहा गया—‘वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है। किन्तु उसके संग्रह की इच्छा, उस पर ममत्व और मूर्च्छा का नाम परिग्रह है। लाघव धर्म की साधना करने वाले को संयमोपयोगी आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त उपकरण नहीं रखने चाहिए। आवश्यक वस्तुओं का भी धीरे-धीरे संयम करना चाहिए तथा उन पर ममत्व बिल्कुल भी नहीं करना चाहिए।

6. सत्य

जो तत्त्व जैसा है उसको उसी रूप में समझना और उसका उसी रूप में कथन करना सत्य धर्म है। जैन परम्परा में सत्य के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया गया है। महाव्रतों में उसे द्वितीय महाव्रत तथा समिति-गुप्ति में भी उसे द्वितीय स्थान पर रखा गया है। गुप्ति में बोलने का निषेध है तथा समिति में कैसे बोलना चाहिए इसका विवेक है। लेकिन सत्य का सम्बन्ध केवल वचन (बोलने और न बोलने) तक ही सीमित नहीं है। सत्य आत्मा का धर्म है। वचन और शरीर तो उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। इस प्रकार जो तत्त्व जैसा है, उसे वैसा ही जानना और उसी रूप में राग-द्वेष से रहित होकर वीतराग भाव में परिणत होना सत्य धर्म है।

सत्य बोलना साधक का जीवन-व्रत है। जब यह जीवन व्रत जीवन के कण-कण में रम जाता है तो वह सत्य धर्म हो जाता है।

7. संयम

सम-सम्यक् और यम-नियंत्रण को कहते हैं। सम्यक् प्रकार से इन्द्रिय, मन आदि का नियंत्रण करना संयम है। पांच महाव्रतों को धारण करना, पांच समितियों का पालन करना, चार कषायों का निग्रह करना तथा पांच इन्द्रियों के जीतने को संयम कहा गया है। संयम ही मुक्ति का साक्षात् कारण है। संयम के महत्त्व को बताते हुए लिखा गया कि जो मुनि संयम में रत है वह देवलोक के सुखों का भी अतिक्रमण कर देता है। संयम की साधना से मानसिक और भौतिक दोनों प्रकार की समस्याओं को समाधान मिलता है।

स्थानांग सूत्र में मन संयम, वचन संयम, काय संयम और उपकरण संयम—ये चार प्रकार के संयम बताये गए हैं। सतरह प्रकार के संयम का भी उल्लेख मिलता है।

8. तप

कर्म-ग्रंथियों को तपाने वाला अनुष्ठान तप धर्म है। तप के दो भेद किये गए हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

बाह्य तप—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता—ये छः बाह्य तप हैं।

आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—ये छः आभ्यन्तर तप हैं। इनका विस्तृत विवेचन निर्जरा तत्त्व के अन्तर्गत किया गया है।

9. त्याग

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करके बाह्य तथा आभ्यन्तर

दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़ना त्याग धर्म है। बाह्य विषयों और पदार्थों का त्याग द्रव्य त्याग है तथा उन विषयों और पदार्थों के प्रति होने वाली आसक्ति, मूर्च्छा का त्याग भाव त्याग है। त्याग धर्म के द्वारा ही आत्मा में वैराग्य बढ़ता है। त्याग ही संयम का मूल आधार है।

10. ब्रह्मचर्य

ब्रह्म शब्द आत्मा का वाचक है। आत्मा में विचरण करना ही ब्रह्मचर्य धर्म है। यह आध्यात्मिक अनुभूति का प्रथम सोपान है। मानव के भीतर स्थित सुप्त शक्तियों को जागृत करने का सफल उपाय है। कामभोग के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाता है। अब्रह्मचर्य को किंपाकफल की उपमा से उपमित किया गया है। जिस प्रकार किंपाक का फल खाने में अच्छा लगता है किन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। उसी प्रकार कामभोग भोगते समय अच्छे लगते हैं किन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता है।

जब इन्द्रियों का प्रवाह अन्तर्मुखी बनता है तब ब्रह्मचर्य की साधना होती है। इन्द्रियों का अपनी विषयों की ओर प्रवाहित होना अब्रह्मचर्य है तथा इन्द्रियों को आत्म-स्वरूप में लीन करना ब्रह्मचर्य धर्म है।

इस प्रकार क्षमा, मुक्ति, आर्जव, मार्दव आदि श्रमण के दस धर्म बताये गये हैं, पर इनका आचरण केवल श्रमण के लिए ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के लिए यथाशक्य आचरणीय है।

प्रश्नावली

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. जैन आचार के आधार और स्वरूप को बताते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

2. नौ तत्त्वों को विस्तार से समझाएँ।
3. मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों का विवेचन करें।
4. जैन दर्शन के अनुसार रत्नत्रय का विवेचन करें।
5. गुणस्थान किसे कहते हैं? चौदह गुणस्थानों पर प्रकाश डालें।
6. षडावश्यक का विवेचन करें।
7. श्रमण के दस धर्मों का विवेचन करें।

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

1. जैन आचार का आधार क्या है?
2. निर्जरा तत्त्व से क्या समझते हैं?
3. सामायिक आवश्यक को समझाएँ।
4. सम्यक् दर्शन से क्या तात्पर्य है?

इकाई-4

आचार-मीमांसा

प्रत्येक मनुष्य शाश्वत सुख का अभिलाषी होता है। शाश्वत सुख के लिए आध्यात्मिक विकास आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास आचार की शुद्धता के बिना संभव नहीं है। आचार की शुद्धता के लिए आचार-मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आचार के दो मार्ग हैं—श्रमणाचार और श्रावकाचार। संन्यास ग्रहण कर अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का अखण्डरूप से पालन करना श्रमणाचार है। गृहस्थ आश्रम में रहकर अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रतों का अणुरूप में पालन करना श्रावकाचार है। बारह व्रतों के अभ्यास के बाद विशेष साधना के लिए श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं को स्वीकार करता है। प्रतिमा से तात्पर्य विशेष नियम, प्रतिज्ञा और संकल्प से है। श्रमण और श्रावक के आचार का मूल अहिंसा है। शेष व्रत अहिंसा के संपोषण के लिए हैं। श्रावक की जीवनशैली के नौ सूत्रों में भी मुख्य अहिंसा है। अच्छा जीवन जीते हुए जीवन के अन्त में संलेखना-संधारा पूर्वक समाधिमरण को प्राप्त करने की कला जैन धर्म में सिखलाई गई है। प्रस्तुत इकाई में श्रमणाचार, श्रावकाचार, ग्यारह प्रतिमा, जैन जीवनशैली, अपरिग्रह-इच्छा परिमाण तथा संलेखना-संधारा का विवेचन किया गया है।

1. श्रमणाचार

भारतीय संस्कृति की दो मूल धाराएँ हैं—ब्राह्मण संस्कृति और श्रमण संस्कृति। ब्राह्मण संस्कृति ने गृहस्थ आश्रम को विशेष महत्त्व दिया जबकि श्रमण संस्कृति ने श्रमण जीवन को अधिक महत्त्व दिया। जैन परम्परा में श्रमण ऐसे व्यक्ति को कहा गया है जिसकी प्रवृत्तियाँ श्रमणाचार की संज्ञा से अभिहित हों। भगवान महावीर ने दो प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया—श्रमणाचार और श्रावकाचार। उन्होंने कहा प्रत्येक साधक को पहले श्रमणाचार का ज्ञान कराना चाहिए, उसी के पालन का उपदेश देना चाहिए। यदि वह उसके पालन करने

में असमर्थ हो तो उसे श्रावकाचार का उपदेश देना चाहिए। श्रमण का आचार महाव्रत की साधना है तथा श्रावक का आचार अणुव्रत की साधना है। जिनमें महाव्रतों का पालन करने की क्षमता हो वे महाव्रतों का पालन करें तथा जो शारीरिक या मानसिक दृष्टि से अपने आपको असमर्थ पाते हैं, वे अणुव्रतों की साधना करें। अणुव्रतों की साधना करने वाला श्रावक भी इस सत्य को स्वीकार करता है कि मैं महाव्रतों का पालन करने में असमर्थ हूँ, इसलिए अणुव्रतों की साधना को स्वीकार कर रहा हूँ। अणुव्रतों की साधना करते हुए भी वह प्रतिदिन यह मनोरथ (इच्छा) करता है 'वह दिन कब आएगा जब मैं भी गृहस्थ धर्म से मुक्त हो, घरबार छोड़कर श्रमणधर्म को स्वीकार करूँगा।' इससे स्पष्ट है कि श्रमण परम्परा में श्रमण जीवन को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

श्रमण का तात्पर्य

श्रमण का अर्थ पापकारी समस्त प्रवृत्तियों (कार्यों) से विरति है। श्रमण का तात्पर्य श्रमण शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए समण शब्द का प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—1. श्रमण, 2. समन और 3. शमन।

श्रमण—श्रमण शब्द श्रम् धातु से बना है। इसका अर्थ है—श्रम-परिश्रम। जो व्यक्ति अपने आत्म-विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

समन—समन शब्द के मूल में सम है। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण है।

शमन—शमन शब्द का अर्थ है—अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। जो इन्द्रिय और मन पर संयम रखता है, जिसके कषाय शान्त होते हैं, वह श्रमण है।

श्रमण का आचार

आध्यात्मिक जीवन के उत्कर्ष को निरन्तर गतिशील बनाए रखने के लिए व्रत, नियम आदि का पालन करना तथा मर्यादा-अनुशासन से अपने आचार को संवारना आवश्यक है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की साधना करना ही श्रमण का आचार है।

◆ पांच महाव्रत—1. अहिंसा महाव्रत, 2. सत्य महाव्रत, 3. अचौर्य महाव्रत, 4. ब्रह्मचर्य महाव्रत और 5. अपरिग्रह महाव्रत।

◆ पांच समिति—1. ईर्या समिति, 2. भाषा समिति, 3. एषणा समिति, 4. अदान-निक्षेप समिति, 5. उत्सर्ग समिति।

◆ तीन गुप्ति—1. मनगुप्ति, 2. वचनगुप्ति और 3. कायगुप्ति।

महाव्रत

महान् और व्रत—इन दो शब्दों से बने महाव्रत का अर्थ है—सर्वोच्च नियम, सार्वभौम नियम। महाव्रती साधु अहिंसा, सत्य आदि का पालन पूर्णरूप से करता है। उनके लिए किसी भी परिस्थिति में कोई अपवाद नहीं होता। महाव्रत पांच हैं—

1. अहिंसा महाव्रत

पांच महाव्रतों में पहला महाव्रत है—अहिंसा। इसका दूसरा नाम प्राणातिपात-विरमण भी है। सब प्रकार की हिंसा से विरत होना अहिंसा महाव्रत है। श्रमण को स्व और पर दोनों प्रकार की हिंसा से विरत होना होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का विनाश करना स्व-हिंसा है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा और हानि पहुंचाना पर-हिंसा है।

दसवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि श्रमण जान-बूझकर या अनजान में किसी भी प्राणी की हिंसा मन, वचन और शरीर से न

स्वयं करे, न दूसरों से करवाये और न करने वाले का अनुमोदन करे। इस प्रकार श्रमण धर्म स्वीकार करते समय वह तीन करण और तीन योग से त्रस और स्थावर समस्त जीवों की हिंसा न करने का संकल्प स्वीकार करता है।

प्रश्न होता है कि श्रमण को जीवन चलाने के लिए खाना-पीना, चलना-फिरना, श्वासोच्छ्वास जैसी क्रियाएँ करना अनिवार्य होता है। बहुत सावधानी रखते हुए भी सूक्ष्म जीवों की हिंसा से सर्वथा बच पाना संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में पूर्णरूप से अहिंसा का पालन कैसे संभव हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान तत्त्वार्थसूत्र के 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्र से हो जाता है। प्रमादवश किसी के प्राणों का हनन करना हिंसा है। जब श्रमण का प्रमत्तयोग छूट जाता है तो प्राणों का अतिपात (हनन) होने पर भी उसे हिंसा का पाप नहीं लगता है और प्रमत्तयोग होने पर प्राणों का अतिपात न होने पर भी हिंसा होती है। अहिंसा का संबंध प्राण-वियोजन न करने मात्र से नहीं अपितु संयम से है। संयत प्रवृत्ति होने पर यदि किसी प्राणी का वध हो भी जाए तो वहां हिंसा नहीं है। संयत प्रवृत्ति न होने पर यदि किसी प्राणी का वध न भी हो तो वहां पर हिंसा है। इस दृष्टि से अहिंसा की परिभाषा है—'सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा' अर्थात् प्राणीमात्र के प्रति संयम अहिंसा है। दूसरे शब्दों में प्रमाद हिंसा और अप्रमाद अहिंसा है।

2. सत्य महाव्रत

श्रमण का दूसरा महाव्रत है—सत्य। किसी भी परिस्थिति में असत्य नहीं बोलना सत्य महाव्रत है। श्रमण जीवनभर के लिए तीन करण और तीन योग से सब प्रकार के असत्य संभाषण का त्याग करता है। जैन आगमों में असत्य के चार प्रकार कहे गए हैं—

1. होते हुए नहीं कहना।
2. नहीं होते हुए हां कहना।
3. वस्तु कुछ है फिर भी उसे कुछ और बता देना।
4. हिंसाकारी, पापकारी और अप्रिय वचन बोलना।

उपर्युक्त चारों प्रकार का असत्य भाषण श्रमण के लिए वर्जित है। सत्य का संबंध केवल वाणी से नहीं होता अपितु अपना अभिप्राय जताने की हर चेष्टा से होता है। इस दृष्टि से सत्य के चार रूप होते हैं—शरीर की सरलता, मन की सरलता, वचन की सरलता और कथनी-करनी की समानता।

श्रमण साधक को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन दसवैकालिक सूत्र में मिलता है। वहां कहा गया है—अप्रिय, अहितकारी, पीड़ाकारी और कटु सत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे—काने को काना, अंधे को अंधा आदि नहीं कहना चाहिए।

क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि कारणों से व्यक्ति झूठ बोलता है। इन कारणों से बचने वाला असत्य भाषण से अपने आप बच जाता है। सत्य महाव्रत की साधना के लिए भाषा समिति का पूरा-पूरा विवेक होना चाहिए। भाषा की शुद्धि के लिए सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार—इन चार भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। सत्य और व्यवहार भाषा का प्रयोग करना चाहिए तथा असत्य और मिश्रभाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

3. अचौर्य महाव्रत

श्रमण का तीसरा महाव्रत है—अचौर्य। अचौर्य का मतलब है—चोरी नहीं करना, अदत्त वस्तु नहीं लेना। मालिक की आज्ञा के बिना, उसके दिये बिना श्रमण अपने आप कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करता। बिना अनुमति एक तिनका भी ग्रहण करना चोरी है। किसी

भी वस्तु की आवश्यकता होने पर उसके स्वामी से पूछकर, उसके देने पर ही ग्रहण करना। जिस प्रकार श्रमण अदत्त वस्तु स्वयं ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार दूसरों से भी ग्रहण नहीं करवाता है और करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करता। वह तीन करण और तीन योग से चोरी न करने का जीवन भर के लिए संकल्प स्वीकार करता है।

स्थानांग सूत्र की टीका में चार प्रकार के अदत्त बताये गए हैं—1. स्वामी-अदत्त, 2. जीव-अदत्त, 3. तीर्थकर-अदत्त और 4. गुरु-अदत्त।

1. स्वामी-अदत्त—जिस वस्तु का जो स्वामी है उसकी अनुमति के बिना वह वस्तु ग्रहण करना स्वामी-अदत्त है।

2. जीव-अदत्त—स्वामी के द्वारा अनुमति दिये जाने पर भी स्वयं जीव की अनुमति के बिना उसे ग्रहण करना जीव अदत्त है, जैसे—फल-फूलों को ग्रहण करना, जल को ग्रहण करना आदि। फल-फूलों के जीवों ने अपने प्राणों के हनन करने की अनुमति नहीं दी है।

3. तीर्थकर-अदत्त—तीर्थकर भगवान ने जिस कार्य को करने की अनुमति नहीं दी है, उसका आचरण करना या उसको ग्रहण करना तीर्थकर-अदत्त है।

4. गुरु-अदत्त—तीर्थकर भगवान द्वारा अनुमति होने पर भी यदि गुरु की आज्ञा नहीं है तो उसे ग्रहण करना गुरु-अदत्त है।

इस प्रकार अचौर्य महाव्रत में बिना अनुमति अपने आप कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता है। पूर्ण प्रामाणिकता का नाम अचौर्य महाव्रत है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत

श्रमण का चौथा महाव्रत है—ब्रह्मचर्य महाव्रत। ब्रह्मचर्य में दो

शब्द हैं—ब्रह्म और चर्य। ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा और चर्य का अर्थ है—विचरण करना। ब्रह्मचारी व्यक्ति अपनी आत्मा में ही रमण करता है। श्रमण के लिए मैथुन का पूर्ण त्याग करना अनिवार्य है। उनके लिए मन, वचन एवं काय से मैथुन का सेवन करने, करवाने तथा अनुमोदन करने का पूर्ण निषेध है। ब्रह्मचर्य का मतलब केवल मैथुन (संभोग) से विरत होना ही नहीं है अपितु पांचों इन्द्रियों तथा मन को विषयों की आसक्ति से सर्वथा निवृत्त रखने से है।

जैन आगमों में ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहा गया है—जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है उसे देव, दानव, यक्ष आदि सभी नमस्कार करते हैं। सब तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर होता है।

5. अपरिग्रह महाव्रत

श्रमण का पांचवां व्रत है—अपरिग्रह महाव्रत। श्रमण को समस्त बाह्य (धन-धान्य, स्त्री, संपत्ति, प्रशु आदि) और आभ्यन्तर (क्रोध, मान आदि) परिग्रह का त्याग करना होता है। श्रमण मन, वचन और काय—तीनों से ही न स्वयं परिग्रह रखता है, न रखवाता है और न परिग्रह रखने का अनुमोदन करता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि श्रमण को भी जीवनोपयोगी तथा संयमोपयोगी पदार्थों का ग्रहण करना पड़ता है, तो वह पूर्णतया परिग्रह का त्याग कैसे कर सकता है? जीवन-निर्वाह के लिए आहार, पानी तथा संयम-निर्वाह हेतु वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरण लेने पड़ते हैं?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि जैन दर्शन के अनुसार परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य पदार्थों का संग्रह मात्र नहीं है अपितु पदार्थ के प्रति होने वाली आसक्ति और मूर्च्छाभाव है। श्रमण जो वस्त्र, पात्र आदि रखते हैं, वे संयम की साधना में उपयोगी होने से रखते

हैं, ममत्व या मूर्च्छाभाव से नहीं। श्रमण के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त वस्तुमात्र का संग्रह सर्वथा वर्जित है। मूर्च्छा का जहां तक प्रश्न है, वह न धर्मोपकरण के प्रति होनी चाहिए और न किसी अन्य वस्तु पर। शास्त्रों में तो यहां तक कहा गया है—‘अवि अप्यणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं’ अर्थात् मुनि अपने शरीर पर भी ममत्व न करे, इसी में अपरिग्रह महाव्रत की पूर्णता है। ये पांचों व्रत मुनि के लिए तीन करण (करना, करवाना, अनुमोदन करना) और तीन योग (मन, वचन और शरीर) से अनिवार्य रूप से पालनीय हैं, समाचरणीय हैं।

6. रात्रिभोजनविरमण व्रत

इन पांच महाव्रतों के साथ-साथ मुनि के लिए रात्रिभोजन का भी निषेध है। दसवैकालिक सूत्र में इसे छठा महाव्रत कहा गया है। मुनि सम्पूर्ण रूप से रात्रिभोजन का त्याग करता है। रात्रिभोजन का निषेध अहिंसा महाव्रत की रक्षा एवं संयम की सुरक्षा दोनों ही दृष्टि से आवश्यक माना गया है। दसवैकालिक सूत्र में कहा गया—मुनि सूर्य-अस्त हो जाने के बाद रात्रि में सभी प्रकार के आहार आदि के भोग की इच्छा मन से भी न करे। अहिंसा व्रत की साधना के लिए जहां रात्रिभोजन का त्याग अनिवार्य माना गया है, वहीं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी रात्रिभोजन का त्याग आवश्यक है।

अष्ट प्रवचनमाता

महाव्रतों की सुरक्षा और शुद्धता के लिए समिति और गुप्ति का विधान है। समिति और गुप्ति—दोनों का सम्मिलित नाम उत्तराध्ययन में ‘प्रवचनमाता’ दिया गया है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र इस रत्नत्रयी को प्रवचन कहा जाता है। उसकी रक्षा के लिए पांच समितियां और तीन गुप्तियां माता-स्थानीय हैं अतः इन्हें प्रवचन माता कहा जाता है। जिस प्रकार माता बच्चे को जन्म ही नहीं देती, उनका पालन-पोषण करती है, रोग आदि होने पर

उनका शोधन भी करती है उसी तरह समिति-गुप्तिरूप ये अष्ट प्रवचनमाताएँ श्रमण के सम्यक् चारित्र का पालन-पोषण करती हैं और उन्हें उनके लक्ष्य तक पहुंचाने में सहयोगी बनती हैं। इन आठ प्रवचनमाताओं में सारा जिन-प्रवचन समा जाता है, इसलिए भी इन्हें माता कहा गया है।

समिति

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति। श्रमण-जीवन में शरीर धारण के लिए अथवा संयम-निर्वाह के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनको विवेकपूर्वक, सम्यक् प्रकार से करना समिति है। यद्यपि श्रमण धर्म निवृत्ति प्रधान है, फिर भी जीवन-चर्या को चलाने के लिए चलना, बैठना, उठना, बोलना, भोजन करना, उपकरण आदि उठाना और रखना, मल-मूत्र का विसर्जन करना आदि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। इन प्रवृत्तियों को जागरूकता के साथ संयमपूर्वक सम्पन्न करना समिति कहलाता है। समिति के पांच भेद हैं—

1. ईर्या समिति
2. भाषा समिति
3. एषणा समिति
4. आदान-निक्षेप समिति
5. उत्सर्ग समिति

1. ईर्या समिति

इसका सामान्य अर्थ है—गमनागमन विषयक जागरूकता। ईर्या का अर्थ है—गमन। गमन-विषयक सद्प्रवृत्ति ईर्या समिति है। कैसे चलना? चलते समय किन बातों का ध्यान रखना, यह विवेक ईर्या समिति में दिया जाता है। श्रमण के चलने की क्रिया इस प्रकार की हो कि उसमें यथासंभव किसी भी प्राणी की हिंसा न हो। उसे युग-प्रमाण भूमि (शरीरपरिमाण भूमि) को आंखों से देखते हुए,

संयमपूर्वक चलना चाहिए, क्योंकि चलते समय दृष्टि को यदि बहुत दूर रखा जाएगा तो सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं देंगे और यदि दृष्टि को अत्यन्त निकट रखा जाएगा तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों की हिंसा से भी बचा नहीं जा सकेगा। इसलिए शरीर-परिमाण क्षेत्र (चार हाथ भूमि) देखकर चलने का विधान है। चलते समय बातचीत, अध्ययन, चिन्तन आदि कार्य करने का भी निषेध रखना चाहिए।

2. भाषा समिति

विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करना भाषा-समिति है। मुनि का काम सर्वथा मौन रखने से नहीं चल सकता। उसे अनेक कारणों से अनेक प्रसंगों पर बोलना पड़ता है किन्तु आवश्यकतावश बोलते समय क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा इन आठ दोषों से रहित हो भाषा का प्रयोग करना चाहिए। मेरे वचनों से किसी को किसी प्रकार की पीड़ा न पहुंचे, इस उद्देश्य से हितकारी वचन बोलना भाषा समिति है। बोलने से पहले और बोलते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह विवेक भाषा समिति में दिया जाता है। जैसे—चलते समय नहीं बोलना चाहिए, रात्रि में एक प्रहर के बाद जोर से नहीं बोलना चाहिए, कर्कश और कठोर भाषा नहीं बोलनी चाहिए। हमेशा सत्य वचन, प्रिय वचन और हितकारी वचन बोलना चाहिए। इस प्रकार भाषा समिति सत्य महाव्रत के पालन करने में सहायक होती है।

3. एषणा समिति

आहार या भिक्षाचर्या का विवेक एषणा समिति कहलाता है। एषणा का सामान्य अर्थ—आवश्यकता, चाह, गवेषणा, खोज करना आदि है। जीवन को चलाने के लिए भोजन, पानी, स्थान आदि की आवश्यकता होती है। श्रमण अपनी आवश्यकता की पूर्ति याचना के द्वारा करता है। आहार, पानी, वस्त्र, स्थान आदि की खोज या याचना

विवेकपूर्वक करना एषणा समिति है। मुनि को निर्दोष आहार, पानी आदि वस्तुओं की खोज करनी चाहिए। उतना ही आहार आदि ग्रहण करना चाहिए, जिससे दाता को कष्ट न हो। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को बिना कष्ट पहुँचाए उनसे थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुनि दाता को कष्ट न पहुँचे इस बात को ध्यान में रखकर आहार आदि ग्रहण करता है। एषणा के तीन भेद हैं—गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा।

1. **गवेषणा**—दोषरहित शुद्ध आहार की खोज करना गवेषणा है।

2. **ग्रहणैषणा**—दोषरहित शुद्ध आहार उपलब्ध होने पर उसे ग्रहण करते समय जिन-जिन नियमों का पालन करना होता है, वह ग्रहणैषणा है।

3. **परिभोगैषणा**—उपलब्ध आहार का भोग करते समय जिन-जिन नियमों का पालन करना होता है, वह परिभोगैषणा है।

आहार, पानी आदि की एषणा करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, यह विवेक एषणा समिति में दिया जाता है। एषणा के नियमों को समझकर संयमी जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं को ग्रहण करना चाहिए। उनके ग्रहण और उपयोग करने में किसी जीव की हिंसा या विराधना न हो, यह विवेक रखना ही एषणा समिति है।

4. आदान-निक्षेप समिति

आदान का अर्थ है—वस्तु को उठाना, ग्रहण करना तथा निक्षेप का अर्थ है—वस्तु को नीचे रखना। किसी भी वस्तु को ग्रहण करते समय अर्थात् उठाते समय और रखते समय सावधानी रखना आदान-निक्षेप समिति है। किसी भी वस्तु को उठाते या रखते समय स्थान आदि को देखकर इस प्रकार रखना चाहिए कि सूक्ष्म से सूक्ष्म

जीवों की भी हिंसा न हो। वस्तु को उठाते और रखते समय किन बातों का ध्यान रखना चाहिए यह विवेक आदान-निक्षेप समिति में दिया जाता है। जैसे बिना देखे सहसा किसी वस्तु को नहीं उठाना, अस्थिर या चंचल चित्त से नहीं उठाना। अच्छी तरह देखकर, प्रमार्जित कर, उसके बाद उपयोग में लेना और कार्य पूर्ण होने पर जागरूकतापूर्वक यथास्थान पर रखना आदान-निक्षेप समिति है।

5. उत्सर्ग समिति

उत्सर्ग का अर्थ है—छोड़ना। आहार के साथ निहार का क्रम भी चलता है। मुनि द्वारा त्यागने योग्य शारीरिक मल, मूत्र, कफ, नाक और शरीर का मैल, अपथ्य आहार आदि अनुपयोगी वस्तुओं का विसर्जन एकान्त तथा जीव-जन्तु से रहित स्थान में करना उत्सर्ग समिति है। अनुपयोगी वस्तुओं का उत्सर्ग कैसे स्थान में किस प्रकार करना चाहिए, यह विवेक उत्सर्ग समिति में दिया जाता है। जैसे—मल-मूत्र आदि का उत्सर्ग ऐसे सार्वजनिक स्थानों पर न करे, जिससे लोकोपवाद हो सकता है। अपथ्य आहार आदि ऐसे स्थान पर न डालें जहां चींटियाँ आने की संभावना हो। अनुपयोगी वस्तु का परिष्ठापन (उत्सर्ग) करने के बाद 'वोसिरामि' (इस वस्तु से मेरा अब कोई प्रयोजन नहीं है) शब्द को तीन बार बोलें। इस प्रकार एकान्त, जीव-जन्तु रहित भूमि पर अनुपयोगी वस्तु का त्याग करना उत्सर्ग समिति है।

गुप्ति

गुप्ति शब्द गोपन से बना है, जिसका अर्थ है—खींच लेना, दूर कर लेना। गुप्ति का अर्थ रक्षा भी है। मन, वचन, काया के साथ जब गुप्ति का योग होता है तो उसका अर्थ है—मन, वचन, काय की अकुशल प्रवृत्तियों से रक्षा तथा कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन करना। तत्त्वार्थसूत्र में 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः' कहकर योग

(प्रवृत्ति) के सम्यक् निग्रह को गुप्ति कहा गया है। जैसे खेत की सुरक्षा के लिए बाड़ तथा नगर की रक्षा के लिए प्राकार और खाई होती है, इसी तरह पापों के निरोध के लिए गुप्तियों का विधान किया गया है। योग की त्रिविधता के कारण गुप्ति के भी तीन भेद कहे गए हैं—

1. मनोगुप्ति,
2. वचनगुप्ति,
3. कायगुप्ति।

1. मनोगुप्ति

मन का सर्वथा निग्रह करना अथवा मन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह करना मनोगुप्ति है। सरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है।

1. सरंभ—किसी को मारने की इच्छा करना सरंभ है।
2. समारंभ—मारने के साधनों पर विचार करना समारंभ है।
3. आरंभ—मारने की क्रिया को प्रारम्भ करने का विचार करना आरंभ है।

इस प्रकार मानसिक सरंभ, समारंभ और आरंभ से मन को हटा लेना मनोगुप्ति है।

2. वचनगुप्ति

वचन का सर्वथा निग्रह करना अथवा वचन की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह करना वचनगुप्ति है। सरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए वचन को रोकना वचनगुप्ति है।

सरंभ—दुष्ट वचन बोलने का विचार करना वाचिक सरंभ है।

समारंभ—दुष्ट वचन बोलने की तैयारी करना वाचिक समारंभ है।

आरंभ—दुष्ट वचन बोल देना वाचिक आरंभ है।

इस प्रकार वाचिक सरंभ, समारंभ और आरंभ से वचन को हटा लेना वचनगुप्ति है।

3. कायगुप्ति

शरीर की प्रवृत्ति का सर्वथा निग्रह करना अथवा शरीर की असंयत प्रवृत्ति का निग्रह करना कायगुप्ति है। सरंभ, समारंभ और आरंभ में प्रवृत्त हुए शरीर को रोकना कायगुप्ति है।

सरंभ—प्रहार करने की दृष्टि से लाठी, मुष्टि आदि उठाना कायिक सरंभ है।

समारंभ—दूसरों के लिए पीड़ाकारक मुष्टि आदि का प्रयोग करना कायिक समारंभ है।

आरंभ—प्राणी वध में शरीर की प्रवृत्ति करना कायिक आरम्भ है।

इस प्रकार कायिक सरंभ, समारंभ और आरम्भ से शरीर को हटा लेना कायगुप्ति है।

जैन दर्शन के अनुसार गुप्ति निवृत्ति प्रधान तथा समिति प्रवृत्ति प्रधान होती है। फिर भी प्रवृत्ति और निवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अतः प्रवृत्ति में निवृत्ति और निवृत्ति में प्रवृत्ति का अंश रहता है। अशुभ भावों से निवृत्ति का अर्थ शुभ भावों में प्रवृत्ति करना है और शुभ भावों में प्रवृत्ति का अर्थ अशुभ भावों से निवृत्ति होता है। पूर्ण निवृत्ति की अवस्था चौदहवें अयोगीकेवली गुणस्थान में प्राप्त होती है।

गुप्ति के लाभ

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—भंते! गुप्ति की साधना से जीव को क्या प्राप्त होता है? भगवान ने कहा—गौतम!

मनोगुप्ति के अभ्यास से जीव एकाग्रता को प्राप्त करता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति मन से कभी भी अशुभ संकल्प नहीं करता, सदा शुभ संकल्प करता है। वचनगुप्ति से निर्विचारता प्राप्त होती है, विचार समाप्त हो जाते हैं तथा कायगुप्ति से जीव आश्रव का निरोध और संवर को प्राप्त करता है।

इस प्रकार पांच समिति और तीन गुप्ति—ये अष्ट प्रवचनमाताएँ श्रमण जीवन का आधार हैं। इसके आधार पर वह पांच महाव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन कर सकता है। और समूचे आचार को विशुद्ध बना सकता है। पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति की आजीवन अखण्ड आराधना करना ही श्रमण का आचार-श्रमणाचार है।

2. श्रावकाचार

भगवान महावीर ने चार तीर्थ की स्थापना की—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका। साधु-साध्वी का आचार श्रमणाचार कहलाता है तथा श्रावक और श्राविका का आचार श्रावकाचार कहलाता है। आचरण की पवित्रता ही मानव-जीवन का सर्वस्व है। जैन दर्शन में जैसे सम्यग् ज्ञान का महत्त्व है, वैसे ही सम्यग् आचरण का महत्त्व है। केवल ज्ञान या केवल आचरण से मोक्ष नहीं मिलता, किन्तु दोनों के उचित संयोग से ही मोक्ष मिलता है।

जैन दर्शन के अनुसार श्रावक व्यापार आदि के द्वारा परिवार का निर्वाह करते हुए भी धर्म की आराधना कर सकता है। एक श्रावक अहिंसा का पूर्ण रूप से पालन तो नहीं कर सकता किन्तु वह अनावश्यक हिंसा को छोड़ सकता है। अनावश्यक हिंसा को छोड़ना धर्म है। इसी प्रकार बड़ी झूठ, बड़ी चोरी का परिहार करना, परस्त्री का त्याग करना और अनावश्यक धन-संग्रह नहीं करना भी धर्म है। श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार जितना संभव हो सकता है, त्याग करने का प्रयास करता है।

श्रावक की परिभाषा

श्रावक के आचार को समझने से पूर्व श्रावक शब्द का ज्ञान होना आवश्यक है। श्रावक शब्द संस्कृत के 'श्रु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सुनना। जो श्रमण के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनकर उसका आचरण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

श्रावक का आचार

भगवान महावीर ने श्रावक के लिए बारह व्रतों का विधान किया है। उनमें से पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत कहलाते हैं।

पाँच अणुव्रत—1. अहिंसा अणुव्रत, 2. सत्य अणुव्रत, 3. अचौर्य अणुव्रत, 4. ब्रह्मचर्य (स्वदार संतोष) अणुव्रत, 5. अपरिग्रह (इच्छापरिमाण) अणुव्रत।

तीन गुणव्रत—1. दिग्व्रत, 2. भोगोपभोग-परिमाण व्रत, 3. अनर्थदण्ड-विरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत—1. सामायिक व्रत, 2. देशावकासिक व्रत, 3. पौषधोपवास व्रत, 4. अतिथि-संविभाग व्रत।

पाँच अणुव्रत

बारह व्रतों में प्रथम पाँच अणुव्रत हैं। अणुव्रत का अर्थ है—छोटा और व्रत का अर्थ है—नियम। श्रमण हिंसा आदि का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक उन व्रतों का पालन आंशिक रूप से करता है अतः उनके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत पाँच हैं।

1. अहिंसा अणुव्रत

श्रावक का प्रथम व्रत अहिंसा अणुव्रत है। इसमें श्रावक स्थूल

हिंसा से विरत होता है अतः इसका एक नाम स्थूल प्राणातिपात-विरमण भी है। स्थूल हिंसा का तात्पर्य द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि स्थूल जीवों की हिंसा से है। जैन दर्शन के अनुसार जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। अपने जीवन को चलाने के लिए श्रावक को सूक्ष्म जीवों पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि की हिंसा करनी पड़ती है किन्तु इनकी भी वह अनावश्यक हिंसा नहीं करता है।

श्रमण मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी की, चाहे वह त्रस हो या स्थावर हो, न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता है और न ही करने वालों का समर्थन करता है। इस प्रकार श्रमण हिंसा का तीन योग (मन, वचन, काया) और तीन करण (करना, करवाना और समर्थन करना) से त्याग करता है। श्रावक इस प्रकार हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सकता। वह केवल त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत होता है। उसकी यह विरति तीन योग और दो करण से होती है। वह निरपराध प्राणियों को मन, वचन, काया से न स्वयं मारता है और न दूसरों से मरवाता है। किन्तु परिस्थिति विशेष में स्थूल हिंसा के समर्थन की उसको छूट होती है।

जैन दर्शन में हिंसा के चार प्रकार माने गए हैं—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमें से श्रावक संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है। वह संकल्पपूर्वक किसी भी त्रसप्राणी की हिंसा नहीं करता। अपने व्यवसाय आदि में तथा दैनिक कार्यों में भी कभी-कभी त्रस जीवों की हिंसा हो जाती है किन्तु वह संकल्पपूर्वक उनकी हिंसा नहीं करता अतः हिंसा हो जाने पर भी उसका व्रत भंग नहीं होता है।

2. सत्य अणुव्रत

श्रावक का दूसरा व्रत सत्य अणुव्रत है। श्रावक पूर्ण सत्य बोलने का व्रत नहीं ले सकता क्योंकि उसे कभी-कभी परिस्थितिवश असत्य-संभाषण करना पड़ता है। परन्तु यदि वह सावधानी रखे तो

बड़ा झूठ बोलने का त्याग कर सकता है। ऐसा झूठ, जिसके बोलने से किसी का बहुत बड़ा नुकसान हो, किसी निर्दोष प्राणी की हत्या हो, ऐसे असत्य संभाषण का त्याग करना सत्य अणुव्रत है। जिस प्रकार श्रावक हिंसा का त्याग तीन योग दो करण से करता है उसी प्रकार असत्य का त्याग भी वह तीन योग और दो करण से करता है।

दसवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि व्यक्ति क्रोध, लोभ, भय या हास्यवश असत्य भाषण करता है। अतः श्रावक के लिए कहा गया कि उसे अपने इन भावों पर नियंत्रण रखना चाहिए।

3. अचौर्य अणुव्रत

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य अणुव्रत है। इसमें वह स्थूल चोरी से तीन योग और दो करण से विरत होता है। स्थूल चोरी का त्याग करने पर उसका जीवन लोक-व्यवहार की दृष्टि से विश्वसनीय और प्रामाणिक बन जाता है।

श्रावक पूर्ण रूप से चोरी को नहीं छोड़ सकता किन्तु डाका डालकर, ताला तोड़कर, लूट-खसोटकर, बड़ी चोरी का त्याग करना अचौर्य अणुव्रत है। जिस चोरी से राजदण्ड मिले और लोग निन्दा करें, वैसी चोरी बहुत घृणित मानी जाती है। उसे छोड़ना प्रत्येक श्रावक का ही नहीं, प्रत्येक सभ्य व्यक्ति का कर्तव्य है।

4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत (स्वदार-संतोष व्रत)

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसे स्वदार-संतोष व्रत भी कहा जाता है। श्रावक संन्यासी नहीं होता। अपनी वंश परम्परा को चलाने के लिए वह विवाह करता है। अपनी पत्नी में ही संतोष करना स्वदारसंतोष व्रत है। दूसरे शब्दों में वेश्यागमन और पर-स्त्री संभोग का त्याग करना तथा अपनी स्त्री के साथ भी संभोग की मर्यादा करना ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। इसी प्रकार स्त्री पर-पुरुष के साथ संभोग का त्याग करती है तथा अपने पति के साथ संभोग

की मर्यादा करती है। कामुकता का जितने अंशों में त्याग किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत है।

5. अपरिग्रह अणुव्रत (इच्छापरिमाण व्रत)

श्रावक का पांचवां व्रत अपरिग्रह-इच्छापरिमाण व्रत है। श्रावक पूर्ण अपरिग्रही नहीं हो सकता क्योंकि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं परिग्रह से ही पूरी होती हैं। सोना, चांदी, मकान, धन आदि सब परिग्रह हैं। परिग्रह के संग्रह की मर्यादा करना अपरिग्रह अणुव्रत है। दुनियां में धन-संग्रह की कोई सीमा नहीं है। मनुष्य जैसे-जैसे उसका संग्रह करता है, लालसा बढ़ती ही जाती है। इस बढ़ती लालसा को रोकने के लिए अपरिग्रह अणुव्रत का विधान है। इसका दूसरा नाम इच्छा-परिमाण भी है। इच्छाएं अनन्त हैं। वे कभी पूरी नहीं होती। एक इच्छा पूरी होती है तो दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उन बढ़ती हुई इच्छाओं की सीमा करना इच्छा-परिमाण व्रत है। भगवान् महावीर ने पदार्थ के प्रति मूर्च्छा-आसक्ति को भी परिग्रह कहा है। श्रावक को अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करना चाहिए तथा जिन आवश्यक पदार्थों का संग्रह वह करता है, उनके प्रति भी ममत्व नहीं करना चाहिए।

गुणव्रत

श्रावक के द्वारा स्वीकार किए जाने वाले बारह व्रतों में पांच अणुव्रत तो मूलव्रत हैं और शेष सात व्रत गुणव्रत और शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रतों का विधान अणुव्रतों के विकास के लिए किया गया है। इसलिए अणुव्रतों को सोना तथा गुणव्रतों को सोने की चमक-दमक बढ़ाने वाले पॉलिश के समान कहा गया है। अणुव्रत के पालन में जो कठिनाइयां आती हैं, उन कठिनाइयों को गुणव्रत दूर करते हैं। गुणव्रत के द्वारा अणुव्रत की सीमा में रही हुई मर्यादा को ओर संकुचित किया जाता है। अणुव्रतों की पुष्टि हेतु तीन गुणव्रत बताये गए हैं—

1. दिशापरिमाण व्रत (दिग्व्रत),
2. भोगोपभोगपरिमाण व्रत,
3. अनर्थदण्डविरमण व्रत।

6. दिशा-परिमाण व्रत

तीन गुणव्रतों में पहला गुणव्रत दिशा-परिमाण व्रत है। इसे दिग्व्रत भी कहा जाता है। दिग् अर्थात् दिशा। श्रावक को अपने व्यापार या अन्य कार्यवश सभी दिशाओं में यात्रा करनी पड़ती है। पूर्व-पश्चिम आदि सभी दिशाओं में एक सीमा निश्चित कर उस सीमा से बाहर हर तरह के सावध कार्य करने का त्याग करना दिग्व्रत या दिशा-परिमाण व्रत है। यह व्रत श्रावक के हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि के जो विस्तृत क्षेत्र हैं, उन्हें सीमित कर देता है। जिस श्रावक ने इस व्रत को स्वीकार किया है उसे इसका अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।

7. भोगोपभोग-परिमाण व्रत

श्रावक का दूसरा गुणव्रत भोगोपभोग-परिमाणव्रत है। जो वस्तु एक बार उपयोग में आती है उसे भोग कहते हैं, जैसे—भोजन, पानी आदि। जो वस्तु बार-बार उपयोग में आती है उसे उपभोग कहते हैं, जैसे—मकान, वस्त्र, पलंग आदि। भोग और उपभोग में आने वाली वस्तुओं का सीमाकरण करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

यह व्रत अहिंसा और अपरिग्रह की रक्षा के लिए है। इसमें श्रावक स्वाद या आसक्तिवश भोगों का सेवन नहीं करता अपितु आवश्यकतावश उनका उपभोग करता है। दिशापरिमाण व्रत में श्रावक मर्यादित क्षेत्र से बाहर के पदार्थ आदि के भोगों से विरत होता है किन्तु निर्धारित क्षेत्र के अन्तर्गत पदार्थों के भोगोपभोग से सर्वथा खुला रहता है, किन्तु इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक मर्यादित क्षेत्र में भी द्रव्य, क्षेत्र काल से पदार्थों के भोग की सीमा

कर लेता है। जैसे अमुक-अमुक पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा, अमुक पदार्थ इतनी बार से अधिक बार काम में नहीं लूंगा या अमुक पदार्थ इतने समय तक ही काम में लूंगा आदि।

8. अनर्थदण्डविरमण व्रत

श्रावक का तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्ड विरमण व्रत है। अपने तथा अपने परिवार के जीवन-निर्वाह के लिए श्रावक को आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है, उससे वह बच नहीं सकता। किन्तु बिना प्रयोजन के की जाने वाली हिंसात्मक प्रवृत्ति का त्याग करना अनर्थदण्डविरमण व्रत है। इस गुणव्रत से प्रधानतया अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण होता है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक निरर्थक किसी की हिंसा नहीं करता और न निरर्थक वस्तु का संग्रह ही करता है।

क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं—सार्थक और निरर्थक। सार्थक क्रियाएँ वे हैं जिन्हें सम्पादित करना आवश्यक होता है। शेष अनावश्यक क्रियाएँ निरर्थक क्रियाएँ हैं। सार्थक सावद्य क्रियाओं को करना अर्थदण्ड है और निरर्थक पापपूर्ण क्रियाओं को करना अनर्थदण्ड है। अनर्थदण्ड के अनेक उदाहरण हैं, जैसे—स्नान आदि कार्यों में आवश्यकता से अधिक जल का अपव्यय करना, आवश्यकता से अधिक वृक्ष के पत्तों, पुष्पों को तोड़ना, नल की टोटी, बिजली अथवा पंखों को खुला छोड़ देना आदि।

चार शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ है—अभ्यास। जिस प्रकार विद्यार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक को कुछ व्रतों का पुनः पुनः अभ्यास करना पड़ता है। इसी अभ्यास के कारण इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा गया है। अणुव्रत और गुणव्रत एक ही बार जीवनभर के लिए ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं—

1. सामायिक व्रत,
2. देशावकासिक व्रत,
3. पौषध व्रत,
4. अतिथि-संविभाग व्रत।

9. सामायिक व्रत

पहला शिक्षाव्रत सामायिक है। सामायिक सम और आय—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम का अर्थ है—समता, समभाव। आय का अर्थ है—लाभ, प्राप्ति। जिससे समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति होती है, उसे सामायिक कहते हैं। जैन परम्परा में एक मुहूर्त (48 मिनट) तक सावद्य-प्रवृत्ति का त्याग कर समभाव में स्थिर होने का अभ्यास करना सामायिक व्रत है।

10. देशावकासिक व्रत

दूसरा शिक्षाव्रत देशावकासिक व्रत है। एक निश्चित अवधि के लिए हिंसा, असत्य आदि का त्याग करना देशावकासिक व्रत है। पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों में जो त्याग किए जाते हैं, वे जीवनभर के लिए किए जाते हैं, किन्तु जो श्रावक इनका त्याग जीवनभर के लिए न करके दो-चार वर्षों के लिए करता है, तो वे सब त्याग (व्रत) देशावकासिक व्रत में आते हैं।

दिशापरिमाणव्रत में जीवनभर के लिए दिशाओं की मर्यादा की जाती है। उन दिशाओं की मर्यादाओं के परिमाण में कुछ घंटों या दिनों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावकासिक व्रत है। इसी प्रकार भोगोपभोग-परिमाण व्रत में जो सीमा निर्धारित की गई उसका भोग भी प्रतिदिन नहीं किया जाता, उस निर्धारित सीमा का कुछ घंटों या दिनों के लिए संकुचित करना देशावकासिक व्रत है। उपलक्षण से अन्य व्रतों की स्वीकृत मर्यादाओं को संकुचित करना भी इस व्रत में समाहित है।

11. पौषधोपवास व्रत

तीसरा शिक्षाव्रत पौषधोपवास व्रत है। अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या तथा अन्य किसी तिथि में उपवास के साथ शारीरिक साज-सज्जा को छोड़कर एक दिन-रात तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना पौषधव्रत है। चौविहार उपवास के बिना पौषध व्रत नहीं होता। तिविहार उपवास कर जो चार प्रहर या अधिक समय तक पौषध किया जाता है, वह पौषधव्रत नहीं अपितु देशावकासिक व्रत ही होता है। व्यवहार में उसे पौषध कह दिया जाता है।

आठ प्रहर तक जो पौषध किया जाता है वह प्रतिपूर्ण पौषध कहलाता है। पौषधकाल में श्रावक साधु की तरह हो जाता है। वह उतने समय के लिए गृहस्थ द्वारा किये जाने वाले सभी सावद्य कार्यों से मुक्त हो जाता है। पौषध में वह मुख्य रूप से आत्म-चिन्तन, आत्म-शोधन और आत्म-विकास की दिशा में पुरुषार्थ करता है।

इस व्रत की आराधना में एक दिन-रात (24 घंटे) के लिए निम्न बातों के त्याग किये जाते हैं—

1. चारों आहार के त्याग।
2. कामभोग के त्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन।
3. सोने, चांदी, हीरे आदि के बहुमूल्य आभूषणों का त्याग।
4. माला, गंध आदि धारण का त्याग।
5. हिंसक उपकरणों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग।

12. अतिथिसंविभाग व्रत

चौथा शिक्षाव्रत अतिथिसंविभाग व्रत है। अतिथि का अर्थ है—जिसके आने की कोई भी तिथि, दिन या समय निश्चित नहीं है। जो बिना सूचना के अनायास आ जाये, वह अतिथि है। उस अतिथि को अपने लिए तैयार किये गए भोजन आदि पदार्थों में से

विभाग कर देना अतिथिसंविभागव्रत है। इसमें मुख्य रूप से पांच महाव्रतधारी साधु-संतों को अतिथि कहा गया है। साधु को शुद्ध दान देने की भावना रखना प्रत्येक श्रावक-श्राविका का कर्तव्य है। साधु के निमित्त कोई वस्तु पकाकर, बाजार से मंगवाकर यदि उसे दी जाती है तो वह अशुद्ध दान है। स्वयं के लिए बनाई गई, मंगवाई गई वस्तु का ही दान देना शुद्ध दान है। साधु को अशुद्ध दान देने का त्याग करना और शुद्ध दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

बारह व्रतों की उपयोगिता

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक जीव-अजीव में श्रावक के बारह व्रतों की उपयोगिता को बताते हुए लिखा है—

1. हिंसा की भावना से परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। उससे विरोधी भावना बलवती बनती है। उससे मानवता नष्ट होती है। अतः हिंसा त्याज्य है। श्रावक के पहले व्रत का उद्देश्य है—‘मेत्ती में सव्व भूएसु वेरं मज्झ न केणइ’—सब प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ वैर-भावना नहीं है।

2. समाज के सारे व्यवहार का आधार सत्य है। उसके बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता। लेन-देन के बिना काम नहीं चलता और वह विश्वास के बिना नहीं होता और विश्वास सत्य के बिना नहीं होता। इसलिए सत्य सदा अपेक्षित है।

3. दूसरों पर अधिकार जमाने, लूट-खसोट करने, डाका डालने और आक्रमण करने से अशांति का वातावरण पैदा होता है। जनता तिलमिला उठती है। चारों ओर भय छा जाता है। अतः स्थायी शांति के लिए सभी अपराधों का त्याग करना सबके लिए अनिवार्य है। श्रावक के अस्तेय-व्रत की यह एक महती उपयोगिता है। चोरी सामाजिक विष है। समाज की उन्नति के लिए भी इस विष का नाश अपेक्षित होता है।

4. ब्रह्मचर्य ही जीवन है। उसके बिना मनुष्य निःसत्त्व, बलहीन, दीन और सुषुप्त बन जाता है। ब्रह्मचारी का आत्मविश्वास अटल होता है। उसे न्यायमार्ग से कोई विचलित नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी का आत्मबल बड़ा विचित्र होता है। शक्ति-सम्पन्न समाज के निर्माण में ब्रह्मचर्य का बहुत बड़ा योग है।

5. धन-धान्य आदि वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संचय करना सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है। समाजवादी कहते हैं कि एक धनकुबेर हो और दूसरा एकदम दरिद्र—ऐसी व्यवस्था हम देखना नहीं चाहते। अपरिग्रह-व्रत का हार्द भी यही है कि अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह मत करो।

6. दिग्-व्रत से विस्तारवादी मनोवृत्ति कम होती है। सभी दिशाओं में जाने की मर्यादाएँ हो जाने पर सहज ही शोषण और आक्रमण जैसी स्थितियाँ समाप्त हो जाती हैं। जिनमें विस्तारवादी भावनाएँ होती हैं, वे व्यापार करने व दूसरों पर अधिकार करने को दूर-दूर तक जाते हैं। किन्तु दिग्ब्रती बहुत दूर तक या तो जाता ही नहीं और जाता है तो व्यापार या आक्रमण के लिए नहीं जाता।

7. कहा जाता है कि अपने देश की उद्योग-वृद्धि के लिए विदेशी वस्तुओं का उपभोग मत करो। भोग्य पदार्थों का अधिक संचय मत करो। सातवें व्रत को अच्छी तरह अपना लेने से यह बात सहज ही फलित हो जाती है। जो व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है कि मैं अपने देश में बनी हुई वस्तु के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को काम में नहीं लाऊँगा, इतनी से अधिक वस्तुओं को काम में नहीं लाऊँगा, तब उससे आत्म-कल्याण के साथ-साथ देश की उन्नति सहज ही हो जाती है।

8. गृहस्थ अपने स्वार्थ के लिए हिंसा करता है पर उसे कम से कम अनर्थ पाप से अवश्य बचना चाहिए। बिना प्रयोजन

चलते-फिरते किसी जीव को मार-डालना, गाली देना, झगड़ा करना, ईर्ष्या करना, द्वेष करना, बिना मतलब पानी गिराना, वनस्पति को कुचलते हुए चलना, अग्नि को जलाकर छोड़ देना, घी-तेल आदि के बर्तनों को खुला रख देना—इत्यादि ऐसे अनेक काम हैं, जिनसे बचना आत्म-कल्याण के लिए तो उपयोगी है ही, सामाजिक दृष्टि से भी उपादेय है।

9. समता सबसे बड़ा सुख है। विषमता दुःख है। गृहस्थ समता की आराधना से वंचित न रहे, इसलिए नौवें व्रत का विधान है। एक मुहूर्त तक आत्म-चिन्तन आदि के द्वारा समता (सामायिक) की आराधना करने से वास्तविक शान्ति का अनुभव होता है।

10. दैनिक चर्या की विशुद्धि के लिए दसवां व्रत है। खाने-पीने या भोग्य पदार्थों की दुनिया में कमी नहीं है। मनुष्य लोलुपता के वशीभूत होकर उनका अधिक से अधिक उपभोग करता है। परन्तु उससे शरीरिक एवं मानसिक—दोनों तरह की हानि होती है। दसवां व्रत सिखाता है कि भोग्य-पदार्थों की असारता को समझकर आत्म-संयम करना सीखो। यदि भोग्य-पदार्थों का त्याग एक साथ न हो सके तो अवधि-सहित ही करो। यदि अधिक अवधि तक न हो सके तो एक-एक दिन के लिए करो या उससे भी कम समय के लिए करो। उससे आत्म-कल्याण होगा। साथ ही साथ स्वास्थ्य भी सुधरेगा, मानसिक शक्ति भी दृढ़ होगी, आत्मबल भी बढ़ेगा।

11. ग्यारहवें व्रत में वर्ष में कम से कम एक पौषध-उपवास करना ही चाहिए। इससे आत्मिक आनन्द का अनुभव होता है। स्वास्थ्य का भी इससे गहरा सम्बन्ध है।

12. बारहवें व्रत में संविभाग का उपदेश है। अपने खाने-पीने और पहनने की वस्तु का कुछ विभाग मुनि को देना श्रावक का धर्म है। इस प्रकार दान से जो कमी हो, उसकी पूर्ति के लिए हिंसा

आदि न कर आत्म-संयम करना चाहिए। गृहस्थ के लिए भोजन बनाया जा सकता है, खरीदा भी जा सकता है परन्तु साधु ऐसे आहार को कभी नहीं लेता। अतः श्रावक का यह परम कर्तव्य है कि वह अपने लिए बनाई वस्तु का कुछ अंश साधु को दान दे। यह पात्र-दान है, आत्मसंयम है।

इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत जहाँ वैयक्तिक विकास के हेतु बनते हैं, वहीं समाज और राष्ट्र भी इससे लाभान्वित होता है।

3. ग्यारह प्रतिमा

श्रावक की साधना उत्तरोत्तर आत्मविकास की साधना है। वह आंशिकव्रत से पूर्णव्रत की ओर गति करता है अतः वह साधना की अनेक अवस्थाओं से गुजरता है। बारह व्रतों की साधना का अभ्यास पुष्ट होने पर वह उससे आगे की साधना के लिए अग्रसर होता है, उसे प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमा के प्रकार

प्रतिमा का अर्थ है—प्रतिज्ञा विशेष, नियम विशेष, व्रत विशेष। यह श्रावक के द्वारा गृहस्थ अवस्था में की जाने वाली साधना की विशेष भूमिकाएँ हैं। जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति करता है। प्रतिमाएँ ग्यारह हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. दर्शन प्रतिमा,
2. व्रत प्रतिमा,
3. सामायिक प्रतिमा,
4. पौषध प्रतिमा,
5. कायोत्सर्ग प्रतिमा,
6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा,

7. सचित्तत्याग प्रतिमा,
8. आरम्भत्याग प्रतिमा,
9. प्रेष्यत्याग प्रतिमा,
10. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा,
11. श्रमणभूत प्रतिमा।

1. दर्शन प्रतिमा

श्रावक की प्रथम प्रतिमा का नाम है—दर्शन प्रतिमा। दर्शन का अर्थ है—सही दृष्टिकोण का निर्माण। इस प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक का सम्यक् दर्शन शुद्ध होता है। उसमें किसी भी प्रकार के अतिचार (दोष) की संभावना नहीं होती। श्रावक-धर्म और श्रमण-धर्म पर उसकी गहरी आस्था होती है। दर्शन प्रतिमा वाला अपने तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ को कमकर सम्यग् दर्शन को प्राप्त करता है। इस अवस्था में वह पुण्य को पुण्य और पाप को पाप के रूप में जानता है। सामान्य सम्यक्दृष्टि की अपेक्षा दर्शन प्रतिमाधारी सम्यक्दृष्टि में मलिनता कम होती है। इसमें व्यक्ति की दृष्टि दोषों की ओर न जाकर गुणों की ओर ही जाती है। यह गृहस्थ-धर्म की प्रथम भूमिका है। इस प्रतिमा का समय एक मास है। एक मास तक दर्शन में किसी प्रकार की मलिनता को न आने देना और दर्शन को विशिष्ट दृढ़ता पर पहुंचा देना ही इस प्रतिमा का प्रयोजन है।

2. व्रत प्रतिमा

श्रावक की दूसरी प्रतिमा का नाम—व्रत प्रतिमा है। दर्शन प्रतिमा की दृढ़ता हो जाने के बाद व्रतों को दृढ़ करना होता है अतः पहले से स्वीकृत व्रतों को ओर अधिक दृढ़ करने के लिए व्रत प्रतिमा स्वीकार की जाती है। इस प्रतिमा में श्रावक अहिंसा, सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पांच अणुव्रतों तथा दिग्व्रत, भोगोपभोग-परिमाणव्रत और अनर्थदण्डविरमण व्रत—इन तीन गुणव्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करता है। उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगने देता। लेकिन सामायिक आदि शिक्षाव्रतों का यथासमय सम्यक् प्रकार से अभ्यास नहीं कर पाता। यह गृहस्थ जीवन की दूसरी भूमिका है। इसमें नैतिक आचरण की दिशा में आंशिक प्रयास प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रतिमा का समय दो मास का है।

3. सामायिक प्रतिमा

श्रावक की तीसरी प्रतिमा का नाम सामायिक प्रतिमा है। इस प्रतिमा में सामायिक और देशावकासिक व्रत का निरतिचार—दोषरहित पालन किया जाता है। इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक नियमित रूप से तीनों संध्याओं अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में मन, वचन और कर्म से निर्दोष रूप से सामायिक की आराधना करता है। सामायिक शिक्षाव्रत स्वीकार करने वाले को त्रिकाल में सामायिक करना और वह भी निरतिचार करना आवश्यक नहीं है। वह एक बार या दो बार भी कर सकता है और उसमें यदि कोई अतिचार-दोष लग जाये तो वह भी क्षम्य है। किन्तु सामायिक प्रतिमा में अतिचार लगना क्षम्य नहीं है। इस प्रतिमा का समय तीन मास है।

4. पौषधोपवास प्रतिमा

श्रावक की चौथी प्रतिमा का नाम पौषधोपवास प्रतिमा है। श्रावक के लिए कहा गया है कि वह अष्टमी, चतुर्दसी, पूर्णमासी आदि पर्व तिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास करे। श्रावक के बारह व्रतों में पौषध करना ग्यारहवां व्रत है और प्रतिमा की दृष्टि से वह चतुर्थ प्रतिमा है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि पौषधोपवास शिक्षाव्रत में नरमी से पालन किया जाता है अर्थात् सामान्यतः

पौषधधारी दिन में भी नींद आदि ले लेता है। प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि में भी दोष लग सकता है जबकि पौषधोपवास प्रतिमा में पूर्णता से पालन किया जाता है। किसी भी प्रकार के दोष की संभावना नहीं रहती। पौषध के समय वह पूर्ण श्रमण-साधुवत् बन जाता है। यह गृहस्थ के विकास की चौथी भूमिका है। इस प्रतिमा का समय चार मास है।

5. कायोत्सर्ग प्रतिमा

श्रावक की पांचवी प्रतिमा का नाम कायोत्सर्ग प्रतिमा है। इसे नियम प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें श्रावक के लिए रात्रि में कायोत्सर्ग करने का विधान है। इस प्रतिमा में पूर्व स्वीकृत चार प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए श्रावक पांच विशेष नियमों को स्वीकार करता है—

1. स्नान नहीं करना।
2. रात्रि-भोजन नहीं करना।
3. धोती की लांग नहीं लगाना।
4. दिन में पूर्ण ब्रह्मचारी रहना।
5. रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना।

इस प्रतिमा में मुख्य रूप से काम की आसक्ति, भोग की आसक्ति और देह की आसक्ति को कम करने का प्रयास किया जाता है।

6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

श्रावक की छठी प्रतिमा का नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। पांचवी प्रतिमा में श्रावक दिन में मैथुन सेवन का त्याग करता है किन्तु रात्रि में इसका नियम नहीं होता है। पांचवी प्रतिमा के अभ्यास से श्रावक अपनी काम वासना पर विजय पाने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है

और इस छठी प्रतिमा में वह मैथुन से सर्वथा विरत होकर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेता है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा हेतु वह स्त्री के साथ एकान्त में नहीं बैठता, स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठता, शृंगार नहीं करता तथा वासना को उत्तेजित करने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करता।

7. सचित्त-त्याग प्रतिमा

श्रावक की सातवीं प्रतिमा का नाम सचित्त आहार-त्याग प्रतिमा है। छठी प्रतिमा में श्रावक जहां अपनी काम-वासना पर विजय प्राप्त करता है, वहीं सातवीं प्रतिमा में वह अपनी भोगासक्ति पर विजय प्राप्त करता है। वह सब प्रकार की सचित्त वस्तुओं के आहार का त्याग कर देता है। केवल अचित्त आहार का ही सेवन करता है। इस प्रतिमा का समय सात मास है।

8. आरम्भ-त्याग प्रतिमा

श्रावक की आठवीं प्रतिमा का नाम आरम्भ-त्याग प्रतिमा है। सातवीं प्रतिमा तक श्रावक अपने व्यक्तिगत जीवन में काफी संयमित हो जाता है किन्तु पारिवारिक और सामाजिक दायित्वों से वह मुक्त नहीं हो पाता, अतः परिवार का निर्वहन करने के लिए व्यवसाय आदि कार्य उसे करना पड़ता है। जिसके कारण वह आरम्भ (हिंसा) से पूर्णतया बच नहीं पाता है। इस आठवीं प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक अपने पारिवारिक, सामाजिक आदि उत्तरदायित्वों को अपने ज्येष्ठ पुत्र या अन्य किसी उत्तराधिकारी को संभला देता है और स्वयं व्यवसाय आदि से निवृत्त होकर अपना अधिकांश समय धर्माधना में व्यतीत करता है। इस प्रतिमा में श्रावक स्वयं तो व्यवसाय आदि में आरम्भ नहीं करता, किन्तु अपने पुत्र आदि को यथायोग्य पारिवारिक और व्यावसायिक मार्गदर्शन देता रहता है तथा अपनी सम्पत्ति पर भी स्वामित्व रखता है। इस प्रकार इस

प्रतिमा में श्रावक आरम्भ (हिंसा) का त्याग कर देता है किन्तु दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग नहीं करता। इसकी अवधि आठ मास की है।

9. प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा

श्रावक की नवी प्रतिमा का नाम प्रेष्य-परित्याग प्रतिमा है। प्रेष्य का अर्थ-सेवक, नौकर-चाकर है। इस प्रतिमा में श्रावक नौकर-चाकर आदि दूसरों से भी आरम्भ (हिंसा) करवाने का त्याग कर देता है। इस प्रतिमा का समय नौ मास है।

10. उद्दिष्टभक्त त्याग प्रतिमा

श्रावक की दसवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टभक्त-त्याग प्रतिमा है। उद्दिष्टभक्त का अर्थ है—अपने उद्देश्य से बनाया गया आहार। इस प्रतिमा में श्रावक अपने निमित्त बनाये गए आहार को ग्रहण करने का त्याग कर देता है। वह अपने बालों का शस्त्र से मुण्डन करवाता है, किन्तु शिखा-चोटी अवश्य रखता है। घर संबंधी किसी भी प्रकार का प्रश्न पूछे जाने पर 'मैं जानता हूँ' या 'मैं नहीं जानता'—इन दो वाक्यों से ज्यादा नहीं बोलता है।

11. श्रमणभूत प्रतिमा

श्रावक की ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम श्रमणभूत प्रतिमा है। श्रमणभूत का अर्थ है—श्रमण-सदृश। इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक घर में रहते हुए भी श्रमण जैसा आचरण करता है। वह बालों का मुण्डन करवाता है या लोच करवाता है। साधु की तरह ही पात्र लेकर ज्ञातिजनों के घर भिक्षा के लिए जाता है। वह हर घर से भिक्षा नहीं लेता है। वह अपना परिचय श्रमणोपासक के रूप में ही देता है। उसका हर आचार और व्यवहार श्रमण जैसा होता है। यह श्रावक की उत्कृष्ट कोटि की प्रतिमा है। इसका समय ग्यारह मास का है।

श्रावक इन प्रतिमाओं की साधना को क्रमशः स्वीकार करता है। पहली प्रतिमा का समय एक मास, दूसरी प्रतिमा का समय दो मास, तीसरी प्रतिमा का समय तीन मास, इसी प्रकार क्रमशः ग्यारहवीं प्रतिमा का समय ग्यारह मास है। जैसे-जैसे श्रावक आगे की प्रतिमा को स्वीकार करता है, उसकी भावधारा विशुद्ध होती जाती है। आगे की प्रतिमा में जाने पर भी उसे पहले वाली प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है।

इन प्रतिमाओं के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द ने श्रावक को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम छः प्रतिमाओं को धारण करने वाला जघन्य श्रावक, सात से नौ इन तीन प्रतिमाओं को धारण करने वाला मध्यम श्रावक तथा दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमा को स्वीकार करने वाला उत्तम श्रावक कहलाता है। पंडित आशाधरजी ने प्रथम छः प्रतिमाधारी को गृहस्थ, सात से नौ—इन तीन प्रतिमाधारी को वर्णी या ब्रह्मचारी तथा दसवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाधारी को भिक्षुक कहा है।

4. जैन जीवनशैली

जन्म और मृत्यु जीवन के दो किनारे हैं। उन पर हमारा अधिकार नहीं है। कब, कहाँ, किस रूप में जन्म लेना या मृत्यु को प्राप्त करना, यह व्यक्ति के वश में नहीं है। जन्म और मृत्यु के बीच का जो जीवन है, उस पर व्यक्ति का अधिकार है। उस जीवन को व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जी सकता है। अच्छा जीवन जीने के लिए आवश्यक है—अच्छी जीवन-शैली का होना। शैली शब्द शील से बना है। शील का अर्थ है—स्वभाव। संस्कृत-अंग्रेजी कोश में शैली का अर्थ—बिहेवियर—व्यवहार किया गया है। जीवनशैली से तात्पर्य है—जीवन का व्यवहार अथवा जीवन की कार्यप्रणाली। एक गृहस्थ की जीवनशैली में कुछ सहज अच्छे संस्कार बन जाएँ, यह अपेक्षित है।

प्राचीन आचार्यों ने जैन गृहस्थ के लिए एक जीवनशैली निर्धारित की, जिसमें सप्त व्यसन के परिहार की बात थी। सप्त व्यसन हैं— 1. शराब नहीं पीना, 2. मांस नहीं खाना, 3. जुआ नहीं खेलना, 4. शिकार नहीं करना, 5. चोरी नहीं करना, 6. वेश्यागमन नहीं करना तथा 7. परस्त्रीगमन नहीं करना।

उस समय यह एक जीवनशैली बन गई थी कि जो जैन श्रावक होगा, वह इस आधार पर चलेगा। वही शैली आज तक चली आ रही है। पर इस बदलते हुए युग में, समाज की बदलती हुई अवधारणाओं में जीवनशैली भी विकृत होती जा रही है अतः उस पर पुनर्विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा था।

आचार्य तुलसी ने इस विषय पर चिंतन किया और एक जैन गृहस्थ की जीवनशैली का निर्धारण किया, जिसमें जीवनशैली के मुख्य नौ सूत्र हैं। उनका मानना है कि इस जैन-जीवनशैली में जन-जन की जीवनशैली अर्थात् मानव मात्र की जीवनशैली बनने की क्षमता है। जो भी इस जीवनशैली को अपनाएगा, वह सुख और शांति का जीवन जी सकेगा।

नवसूत्री जैन जीवनशैली

जैन जीवनशैली के नौ सूत्र निम्नलिखित हैं—

1. सम्यक् दर्शन,
2. अनेकान्त,
3. अहिंसा,
4. समण-संस्कृति,
5. इच्छा-परिमाण,
6. सम्यक् आजीविका,
7. सम्यक् संस्कार,

8. आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति,

9. साधर्मिक वात्सल्य।

1. सम्यक् दर्शन

जैन जीवनशैली का पहला सूत्र है—सम्यक् दर्शन। सम्यक् दर्शन अर्थात् सही एवं सकारात्मक दृष्टिकोण का विकास। मिथ्या दृष्टिकोण वाला व्यक्ति कभी भी अच्छा जीवन नहीं जी सकता। अच्छे जीवन के लिए आवश्यक है दृष्टिकोण विधायक बने तथा निषेधात्मक भाव दूर हों। जिस व्यक्ति के तीव्रतम कषाय उपशान्त होते हैं, उसी का दृष्टिकोण सम्यक् होता है। जो छोटी-छोटी बातों पर उत्तेजित होता रहता है, वह जीवन को सही रूप में समझ और जी नहीं सकता। सम्यक् दर्शन प्राप्त होने पर जीवन के प्रति व्यक्ति का दृष्टिकोण बदल जाता है। अन्धानुकरण एवं अंधविश्वास की प्रवृत्ति से उसे छुटकारा मिलता है। अतः जीवनशैली का प्रथम एवं महत्वपूर्ण आयाम है—सम्यक् दर्शन।

2. अनेकान्त

जैन जीवनशैली का दूसरा सूत्र है—अनेकान्त। आग्रह-विग्रह का मूल कारण है—एकान्त दृष्टिकोण। जहाँ अनेकान्त का सिद्धान्त सामने होता है, वहाँ आग्रह-विग्रह टिक नहीं सकते। निरपेक्ष दृष्टिकोण के कारण आग्रह होता है। अनेकान्त सापेक्ष दृष्टिकोण का विकास करता है, जिससे 'मैं जो कहता सत्य वही है, तू जो कहता सत्य नहीं है' ऐसा आग्रह नहीं पनपता। अनेकान्तिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति प्रत्येक कथन में सत्य खोजने का प्रयास करता है। अनेकान्त विवादास्पद प्रसंगों में सामंजस्य तथा समन्वय की मनोवृत्ति का विकास करता है। यह जिसकी जीवनशैली का अंग बन जाता है, उसके आवेश समाप्त हो जाते हैं। सामुदायिक जीवन भी अच्छा बन जाता है। वह छोटी-छोटी बातों में उलझता नहीं अपितु अनेकान्तिक

जीवनशैली के कारण हर परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित कर लेता है।

3. अहिंसा

जैन जीवनशैली का तीसरा सूत्र है—अहिंसा। हिंसा और जीवन दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। गृहस्थ जीवन हिंसा के बिना नहीं चल सकता अतः एक गृहस्थ पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता। जीवन-यापन के लिए हिंसा अपरिहार्य है। अहिंसक जीवनशैली से तात्पर्य पूर्ण अहिंसक बनने से नहीं अपितु अनावश्यक की जाने वाली हिंसा को छोड़ने से है। हिंसा का अल्पीकरण करने से है।

❖ हिंसा के अल्पीकरण का पहला प्रयोग है—अनावश्यक हिंसा का वर्जन करना।

❖ हिंसा के अल्पीकरण का दूसरा प्रयोग है—आक्रामक वृत्ति का परित्याग करना।

❖ हिंसा के अल्पीकरण का तीसरा प्रयोग है—आत्महत्या का परित्याग करना।

❖ हिंसा के अल्पीकरण का चौथा प्रयोग है—भ्रूणहत्या का परित्याग करना।

अहिंसक जीवनशैली में इन चारों का बहुत महत्त्व है। अहिंसक जीवनशैली से मानवीय संबंधों का विकास होता है, पारिवारिक और सामाजिक संबंधों का विकास होता है। मैत्री और करुणा का विकास होता है।

4. समण संस्कृति

जैन जीवनशैली का चौथा सूत्र है—समण संस्कृति। समानता, उपशमभाव और श्रमशीलता का संगम समण संस्कृति का प्राण है। समानता की भावना से मानवीय एकता की भावना को बल

मिलता है तथा जातीय छुआछूत की समाप्ति होती है। उपशमभाव आध्यात्मिक विकास के लिए जितना आवश्यक है, अच्छा जीवन जीने के लिए भी उतना ही जरूरी है। श्रम अर्थात् पुरुषार्थ के बिना कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता। आज की बढ़ती हुई सुविधावादी मनोवृत्ति का परिष्कार श्रमनिष्ठा के संस्कारों से ही संभव है। श्रमशीलता के अभाव में न तो शारीरिक स्वास्थ्य सुरक्षित रह सकता है और न मानसिक प्रसन्नता बनी रह सकती है। इसीलिए सम, शम और श्रम प्रधान जीवनशैली को ही समण संस्कृति में स्थान दिया गया है।

5. इच्छापरिमाण

जैन जीवनशैली का पांचवां सूत्र है—इच्छा का परिमाण। जब तक जीवन में इच्छा-परिमाण की बात नहीं आती तब तक अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। आज वैश्विक स्तर पर कुछ समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं, उनमें से कुछ हैं—

❖ पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा का अभाव।

❖ प्रसाधन सामग्री के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण।

❖ विसर्जन शून्य अर्जन।

❖ पदार्थ के प्रति बढ़ती हुई आसक्ति।

इन समस्याओं का समाधान हर स्तर पर खोजा जा रहा है। 'इच्छा-परिमाण' इसका अच्छा समाधान है। जब जीवन में इच्छाओं का सीमाकरण हो जाता है तो पदार्थ के भोग और संग्रह की सीमा स्वतः हो जाती है। क्रूर हिंसाजनित प्रसाधन सामग्री का परिहार होता है, अर्जन के साथ विसर्जन की मनोवृत्ति का विकास होता है तथा पदार्थ के प्रति अनासक्ति की चेतना जागृत होती है।

6. सम्यक् आजीविका

जैन जीवनशैली का छठा सूत्र है—सम्यक् आजीविका। वर्तमान युग अर्थप्रधान युग है। अर्थ का संबंध जीवन-यापन से है। अर्थ के

अभाव में जीवन-यापन असंभव है। अर्थ-प्राप्ति के लिए व्यक्ति व्यवसाय करता है किन्तु अर्थ के प्रति बढ़ती हुई लालसा उसके व्यवसाय को सम्यक् नहीं रहने देती। अधिक अर्जन, अधिक संग्रह और अधिक भोग की मनोवृत्ति के कारण आज अर्जन के तरीके सही नहीं हैं, जिसके कारण उग्रवाद, आतंकवाद, डकैती, अपहरण, हत्या आदि घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं। अतः आवश्यक है आजीविका की शुद्धि पर ध्यान दिया जाए। सम्यक् आजीविका का सिद्धान्त स्वस्थ समाज का दर्शन है। इसके अनुसार मुख्य रूप से तीन प्रकार के व्यवसाय त्याज्य हैं—

- ❖ धोखाधड़ी वाले व्यवसाय।
- ❖ लोक में घृणित माने जाने वाले व्यवसाय।
- ❖ पर्यावरण को प्रदूषित करने वाले व्यवसाय।

जैन जीवनशैली व्यवसाय में साधन-शुद्धि की प्रेरणा देती है। इससे व्यावसायिक क्षेत्र की प्रमुख समस्याओं का समाधान स्वतः होता है।

7. सम्यक् संस्कार

जैन जीवनशैली का सातवां सूत्र है—सम्यक् संस्कार। वैदिक परम्परा के अनुसार जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जीवन में सोलह संस्कारों को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इनमें से अनेक संस्कार जैन परिवारों में भी मान्य हैं। उन संस्कारों, पर्व, उत्सवों को जैन संस्कार विधि से मनाना चाहिए। जैन संस्कार विधि संयम और सादगी की प्रतीक है। आज बच्चों में, बड़ों में पाश्चात्य संस्कृति हावी होती जा रही है, वे अपनी भारतीय संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। बड़ों का विनय करना, उन्हें प्रणाम करना, उनकी आज्ञा का पालन करना मात्र उपदेश रह गया है। इसलिए जैन जीवनशैली का एक सूत्र रखा गया है—सम्यक् संस्कार। हमारी जीवनशैली संस्कारी हो।

8. आहारशुद्धि व व्यसनमुक्ति

जैन जीवनशैली का आठवां सूत्र है—आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति। स्वस्थ और संतुलित जीवन के लिए आहारशुद्धि बहुत आवश्यक है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक स्वास्थ्य की वृद्धि में भी आहारशुद्धि एवं व्यसनमुक्ति की प्रमुख भूमिका है। आवेश और आवेग पर नियंत्रण रखने के लिए तथा अपराधों से बचने के लिए भी आहारशुद्धि आवश्यक है।

श्रावक की चर्या सब प्रकार के व्यसन से मुक्त होनी चाहिए। उसके खान-पान में शराब, मांस और अण्डों का समावेश या इनका मिश्रण भी नहीं होना चाहिए। पानपराग, गुटखा, चुटकी, जर्दा, अफीम आदि नशीले पदार्थों का सम्पर्क भी सदा वर्जित रहना चाहिए। इंग्लैण्ड के प्रोफेसर हैगे ने अपनी पुस्तक 'यूरिक एसिड और रोगों का कारण' में लिखा है—मांस और अण्डे में यूरिक एसिड होती है। उससे गठिया, लकवा, अनिद्रा, मधुमेह, नेत्रविकार आदि अनेक बीमारियाँ हो सकती हैं। उनके सेवन से बौद्धिक और भावनात्मक विकास भी रुक जाता है। अतः आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति का अभ्यास स्वस्थ रहने का एक बहुत बड़ा उपाय है।

9. साधर्मिक वात्सल्य

जैन जीवनशैली का नौवां सूत्र है—साधर्मिक वात्सल्य। साधर्मिक वात्सल्य जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। आज के युग में इसे भाईचारे का रूप दिया जा सकता है। एक ही धर्म के प्रति श्रद्धा रखने वाले लोगों के प्रति भाईचारे का व्यवहार करना साधर्मिक वात्सल्य है। साधर्मिक व्यक्ति की विशेषताओं का खुले मन से गुणगान करना, धर्म के क्षेत्र में अस्थिर साधर्मिक को प्रेरणा देकर धर्म में पुनः स्थिर करना तथा उनके प्रति आत्मीयपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। इससे जातीय सद्भाव, साम्प्रदायिक सद्भाव बढ़ता है।

इस प्रकार यह नवसूत्री जैन-जीवनशैली एक आदर्श जीवनशैली है। इसे अपनाने वाले व्यक्ति स्वस्थ समाज-संरचना की इकाई बन सकते हैं।

5. परिग्रह-परिमाण व्रत

जैन आचार श्रमणाचार और श्रावकाचार के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। श्रमण परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं अतः उनका व्रत अपरिग्रह महाव्रत कहलाता है। जैन परम्परा में श्रमण (मुनि) को अनासक्त चेतना के विकास के लिए सचेष्ट किया गया है। उनके लिए कहा गया—जिस प्रकार समुद्र को पार करने के लिए नौका आवश्यक है किन्तु समुद्र-यात्री उस नौका में आसक्त नहीं होता, उसी प्रकार जीवन-निर्वाह के लिए वस्त्र, पात्र आदि धार्मिक उपकरण आवश्यक हैं किन्तु मुनि उसमें आसक्त न बने। आसक्तिवश आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह न करे। किन्तु श्रावक का जीवन बिना परिग्रह के संचालित नहीं होता अतः उनके लिए परिग्रह का पूर्ण त्याग करना अनिवार्य नहीं होता। उनका व्रत परिग्रह-परिमाण (इच्छापरिमाण) अणुव्रत कहलाता है। श्रावक के लिए संग्रह की मर्यादा का विधान है, जो स्वयं श्रावक की इच्छा पर निर्भर है। वह आवश्यकतानुसार पदार्थों का ग्रहण करे और अतिरिक्त या आवश्यकता से अधिक पदार्थ का समाज में वितरण कर दे। अपरिग्रही बनने के लिए परिग्रह के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

परिग्रह : लक्षण एवं परिभाषा

परिग्रह शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह' धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर बना है, जिसका अर्थ है—पकड़ना, धामना, लेना, ग्रहण करना आदि। परिग्रह का निरुक्तपरक अर्थ करने पर इसकी दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है—

1. परिग्रह्यते अनेनेति परिग्रहः—जिसके द्वारा ग्रहण किया जाए, वह परिग्रह है।

2. परिग्रह्यते इति परिग्रहः—जो ग्रहण किया जाता है, वह परिग्रह है।

प्रथम निरुक्त के अनुसार पदार्थ को ग्रहण करने में जो कारण है, जिसके कारण व्यक्ति संग्रह करता है, वह परिग्रह है और द्वितीय निरुक्त के अनुसार धन, धान्य, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थ परिग्रह हैं। परिग्रह का विपरीत अपरिग्रह है।

वाचस्पत्यम् के अनुसार 'देह यात्रा के निर्वाह के अतिरिक्त भोग के साधनों और धनादि का अस्वीकार अपरिग्रह है।' आत्म-शुद्धि के लिए बाहरी उपकरणों का त्याग अपरिग्रह है। अपरिग्रह और परिग्रह की यह परिभाषा स्थूल दृष्टि से है, जिसका संबंध मात्र वस्तु के अस्वीकार और स्वीकार से है। परिग्रह और अपरिग्रह को सूक्ष्म दृष्टि से परिभाषित करते हुए बताया गया—मूर्च्छा (आसक्ति) परिग्रह और अमूर्च्छा (अनासक्ति) अपरिग्रह है। वस्तुतः 'पदार्थ अपने आप में न परिग्रह है और न अपरिग्रह अपितु उस पदार्थ के प्रति जब ममत्व भाव जुड़ता है, आसक्ति जुड़ती है तब वह परिग्रह बन जाता है और जब ममत्व भाव हटता है, आसक्ति टूटती है तब वह अपरिग्रह बन जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सूक्ष्म दृष्टि से पदार्थ के प्रति मूर्च्छा या आसक्ति का अभाव अपरिग्रह है और स्थूल दृष्टि से पदार्थों का असंग्रह-अस्वीकार अपरिग्रह है।

परिग्रह के प्रकार

परिग्रह दो प्रकार का होता है—अंतरंग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। व्यक्ति का पदार्थ के प्रति रागात्मक भाव, मूर्च्छा या आसक्ति का भाव अंतरंग परिग्रह है तथा राग (आसक्ति) के कारण पदार्थों

का संग्रह बाह्य परिग्रह है। अंतस्संग शुद्धि होने से बाह्य परिग्रह की सीमा स्वतः हो जाती है और बाह्य परिग्रह की सीमा होने से धीरे-धीरे पदार्थ के प्रति होने वाली मूर्च्छा दूटती जाती है। बाह्य पदार्थ के निम्न नौ प्रकार हैं—

बाह्य परिग्रह

1. क्षेत्र—उपजाऊ भूमि की मर्यादा। इसमें खेत, खलिहान, चारागाह, बाग, पहाड़, खान, जंगल आदि सभी तरह की खुली भूमि का समावेश है।
2. वास्तु—मकान, दुकान, गोदाम, अतिथि-गृह, बंगला आदि।
3. हिरण्य—चांदी के बर्तन, आभूषण तथा चांदी के अन्य उपकरण आदि।
4. सुवर्ण—स्वर्ण, सोने के बर्तन, आभूषण, चैन, घड़ी आदि।
5. धन—रुपये, पैसे, सिक्के, नोट, ड्राफ्ट, चैक, बैंक बैलेंस आदि।
6. धान्य—अनाज, गेहूँ, चावल, उड़द, मूंग, बाजरा आदि।
7. द्विपद—दो पैर वाले प्राणी; जैसे—स्त्री, पुरुष, तोता, मैना आदि।
8. चतुष्पद—चार पैर वाले प्राणी, जैसे—हाथी, घोड़ा, गधा, बकरी, गाय, भैंस आदि पशु।
9. कुप्य या गोप्य—स्वर्ण, चांदी की वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का समावेश कुप्य में होता है। कुप्य का तात्पर्य घर की समस्त सामग्री से है; जैसे—घर के समस्त बर्तन, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पंखे, टेलीविजन, कार, स्कूटर, फ्रीज आदि।

अंतरंग परिग्रह

अंतरंग परिग्रह के चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

श्रावक बाह्य और अंतरंग परिग्रह की मर्यादा करता है। जितनी मर्यादा करता है, फिर उसी के अन्तर्गत अपने जीवन का संचालन करता है।

परिग्रहपरिमाण व्रत की मर्यादाएँ

श्रावक पूर्ण रूप से परिग्रह का परित्याग नहीं कर सकता। वह इन नौ प्रकार के बाह्य परिग्रहों में से अपने लिए आवश्यक वस्तुओं की मर्यादा कर शेष वस्तुओं के ग्रहण एवं संग्रह का त्याग करता है। यही इच्छापरिमाण व्रत या परिग्रहपरिमाण व्रत है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिग्रह का परिमाण इस प्रकार किया जाता है; यथा—

द्रव्य से—अमुक-अमुक वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की इच्छा नहीं करूंगा।

क्षेत्र से—अमुक-अमुक क्षेत्र से बाहर की वस्तु की इच्छा नहीं करूंगा।

काल से—इतने दिन, मास, वर्ष या जीवन भर इन वस्तुओं के अतिरिक्त उपयोग नहीं करूंगा।

भाव से—जिन वस्तुओं की मर्यादा की है, उनसे अधिक की इच्छा नहीं करूंगा।

परिग्रह का कारण

परिग्रह (पदार्थ संग्रह) के मूल कारण हैं—इच्छा, तृष्णा, काम, लोभ और सुखवादी-सुविधावादी मनोवृत्ति।

1. इच्छा

परिग्रह का मूल इच्छा है। व्यक्ति की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं किन्तु इच्छाएँ आकाश के समान असीम होती हैं। इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए ही व्यक्ति पदार्थ का संग्रह करता है। टॉलस्टाय ने अपनी कहानी—How much land does a man require? के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया है कि व्यक्ति असीम तृष्णा के पीछे पागल होकर जीवन की बाजी लगा देता है किन्तु अन्त में उसके शव को दफनाने भर के लिए ही भू-भाग उसके उपयोग में आता है। व्यक्ति की इच्छाएँ असीम हैं। एक इच्छा पूरी होते ही तत्काल उससे भिन्न अन्य वस्तु पाने की इच्छा जाग जाती है। इस प्रकार इच्छाओं का क्रम चलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के इच्छा का गड्ढा इतना बड़ा होता है कि उसको भरने के लिए सारे संसार के समस्त पदार्थ भी थोड़े होते हैं। इसलिए कहा है—Desire is burning fire, he who falls into it never rises again. इच्छा जलती हुई आग है, उसमें गिरा व्यक्ति कभी नहीं उठता।

2. लोभ

परिग्रह का दूसरा कारण लोभ है। लोभ के वशीभूत होकर ही व्यक्ति अर्थार्जन करता है, परिग्रह के प्रति ममत्व-राग करता है। भगवान महावीर ने कहा—‘जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई’ अर्थात् जहाँ लाभ होता है, वहाँ लोभ होता है, लाभ से लोभ बढ़ता है। जैसे व्यक्ति में एक लाख रुपये प्राप्त करने का लोभ जागता है, एक लाख प्राप्त होते ही दस लाख प्राप्त करने का लोभ जाग जाता है और दस लाख प्राप्त होते ही एक करोड़ का लोभ जाग जाता है। इस प्रकार लोभवश व्यक्ति परिग्रह के लिए प्रवृत्त होता है।

3. सुविधावादी मनोवृत्ति

व्यक्ति सुख-सुविधा का जीवन जीना चाहता है। अपनी इस मनोवृत्ति की पूर्ति के लिए परिग्रह का विस्तार करता है ताकि सुख-सुविधा के साधनों को आसानी से जुटा सके।

प्रदर्शन की मनोवृत्ति

व्यक्ति ज्ञातिजनों और मित्रजनों के सम्मुख परिग्रह का प्रदर्शन कर आंतरिक प्रसन्नता का अनुभव करता है। प्रदर्शन की भावना से ही प्रेरित होकर वह बंगला, कार, आभूषण आदि का आवश्यकता न होने पर भी संग्रह करता रहता है।

परिग्रह का परिणाम

परिग्रह अनेक दोषों की जननी है। परिग्रह के लिए ही व्यक्ति हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, अनेक कष्टों को सहन करता है। अतः परिग्रह का परिणाम व्यक्ति के लिए दुःखदाई होता है। जैसे—

❖ धन-धान्य आदि का संग्रह करने के लिए उसे अनेक कष्टों को सहन करना पड़ता है।

❖ धन प्राप्त हो जाने पर उसकी सुरक्षा का भय सदा बना रहता है।

❖ बाढ़, भूकम्प, चोरी-डकैती आदि किन्हीं कारणों से प्राप्त धन का नाश होने पर तीव्र अनुताप होता है।

परिग्रह का सुख तो सभी बंटा लेते हैं, किन्तु परिग्रह से उत्पन्न दुःख का अनुभव व्यक्ति अकेला करता है। परिग्रह असन्तोष, अविश्वास एवं हिंसा आदि का कारण बनता है। इसीलिए परिग्रह का परिणाम दुःख है।

परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य

सामान्यतः यह कहा जाता है कि इच्छाओं का जितना अधिक विकास होगा, उतना ही आर्थिक विकास होगा और जितना आर्थिक विकास होगा, उतना ही राष्ट्र का विकास होगा अतः इच्छाओं को असीम बनाना चाहिए। अर्थ विकास के इस युग में

परिग्रह-परिमाण व्रत का कोई औचित्य नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार परिग्रह-परिमाण व्रत का औचित्य आज भी है। यह अनेक कारणों से मानव जाति के लिए आज भी लाभप्रद है, उनमें से कुछ कारण निम्नलिखित हैं—

1. परिग्रह-परिमाण व्रत व्यक्ति को संतोष और शांति प्रदान करता है।

2. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी जैसे दोषों से बच सकता है।

3. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर अनैतिकता, भ्रष्टाचार, असंयम, लोभ, मिलावट, तस्करी, धोखाधड़ी आदि समस्याओं का समाधान हो सकता है।

4. परिग्रह-परिमाण व्रत करने वाला व्यक्ति निर्धन वर्ग की ईर्ष्या का पात्र बनने से बच जाता है।

5. परिग्रह-परिमाण व्रत होने पर हृदय में उदारता की भावना को बल मिलता है।

6. परिग्रह-परिमाण व्रत सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय होता है क्योंकि उसमें सम्पदा पर एकाधिपत्य की भावना का नाश हो जाता है। अपनी पूर्ति होने के पश्चात् सर्वकल्याण की भावना का विकास होता है।

इस प्रकार भगवान महावीर के अपरिग्रह का विचार और आचार केवल परमार्थ-साधना का विषय नहीं, यह व्यक्तिगत जीवन में सुख और शांति के लिए तथा स्वस्थ समाज संरचना के लिए भी आवश्यक है। यह बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, आतंकवाद और पर्यावरण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याओं के निराकरण का एक सार्थक उपाय है। अतः व्यक्ति अपनी इच्छाओं का सीमाकरण करे तथा आवश्यक पदार्थों के प्रति भी मूर्च्छा-आसक्ति न रखे।

6. संलेखना : संधारा

जन्म और मरण जीवन के दो किनारे हैं। व्यक्ति जन्म लेता है, जीवन जीता है और आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। यह एक शाश्वत सत्य है कि जीवन के साथ मृत्यु का अनिवार्य संबंध है। जीवन के अगल-बगल चारों ओर मृत्यु का साम्राज्य है। जीवन के पश्चात् मृत्यु निश्चित है। कोई भी इसका अपवाद नहीं है।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन्होंने जीने की कला सिखाने का प्रयास किया है। जीवन कैसे जीना चाहिए? इस विषय पर बहुत कहा गया है, बहुत लिखा गया है। पर मरने की भी कोई कला होती है, कैसे मरना चाहिए? इस विषय पर बहुत कम लिखा गया।

भगवान महावीर ने जीने की कला सिखायी उसी तरह मरने की कला भी सिखायी। संलेखनापूर्वक समाधिमरण का वरण वही कर सकता है, जो मरने की कला सीख चुका है। श्रावक के लिए बारह व्रतों की आराधना करना तथा श्रमण के लिए पांच महाव्रतों की आराधना करना जीने की कला है और संलेखनापूर्वक जीवन-यात्रा का समापन मरने की कला है।

संलेखना का अर्थ

संलेखना शब्द 'सम्' और 'लेखना'—इन दो शब्दों के संयोग से बना है। सम् का अर्थ है—सम्यक् और लेखना का अर्थ है—कृश करना। आचार्य अभयदेव ने संलेखना को परिभाषित करते हुए लिखा है—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को कृश (दुर्बल) किया जाता है, वह संलेखना है। शरीर को कृश करना द्रव्य संलेखना है और कषाय को कृश करना भाव संलेखना है। संलेखना में शरीर और कषाय को साधक इतना कृश कर लेता है कि उसके अन्तर्मानस में किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहती।

संलेखना और संथारा में अन्तर

संलेखना और संथारा दोनों ही समाधिमरण की प्रक्रियाएँ हैं। संथारा मृत्यु पर्यन्त-आजीवन किया जाता है। जीवन भर के लिए संथारा स्वीकार करना आसान कार्य नहीं है अतः संथारा की तैयारी के लिए पहले संलेखना करना आवश्यक है। संथारे की पूर्व तैयारी के लिए संलेखना का अभ्यास किया जाता है, तत्पश्चात् संथारे की योग्यता, क्षमता, मनोबल आदि को देखकर आजीवन संथारा ग्रहण किया जाता है। दोनों का फल समाधिमरण है। इस दृष्टि से संलेखना और संथारा में अन्तर यही है कि संलेखना कारण है और संथारा उसका कार्य है। संलेखना एक प्रकार से समता की साधना का अभ्यास करना है तथा संथारा पूर्वोक्त अभ्यास को कार्यरूप में परिणत करना है।

संथारा के प्रकार

समाधिमरण को संथारा कहते हैं। जैन ग्रन्थों में इसके दो प्रकार बताये गए हैं—1. सागारी संथारा और 2. सामान्य संथारा।

1. सागारी संथारा

सागारी का तात्पर्य है—आगार (छूट, विकल्प) सहित। संथारा का अर्थ है त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग। जब अकस्मात् जीवन में ऐसी कोई विपत्ति उपस्थित हो जाती है, जिसमें से जीवित बच पाना संभव प्रतीत नहीं होता, जैसे—आग लग जाना, नदी में गिर जाना, सामने से शेर आदि हिंसक पशुओं का आ जाना आदि। ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जब मौत सामने दिखाई देती है, उस समय जो संथारा ग्रहण किया जाता है, वह सागारी संथारा कहलाता है। यह संथारा मृत्युपर्यन्त के लिए नहीं होता। यदि वह उस विकट परिस्थिति से बच जाता है तो वह अपना जीवनक्रम यथावत् चालू

रख सकता है। जब तक परिस्थिति समाप्त नहीं होती तब तक के लिए यह संधारा होता है। परिस्थिति विशेष में यदि उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसका मरण भी संधारापूर्वक होने से उसे समाधिमरण कहा जाता है।

2. सामान्य संधारा

जब व्यक्ति वृद्ध हो जाता है, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है, असाध्य रोगों के कारण जीने की कोई आशा नहीं रहती, मृत्यु सम्मुख दिखाई देती है तब व्यक्ति सामान्य संधारा ग्रहण करता है। सामान्य संधारा तीन प्रकार का होता है—

1. भक्त-प्रत्याख्यान,
2. इंगिणीमरण,
3. पादोपगमन।

1. भक्त-प्रत्याख्यान

जीवन भर के लिए त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग कर जो संधारा ग्रहण किया जाता है, वह भक्त प्रत्याख्यान संधारा है। आहार चार प्रकार का होता है—अशन (अनाज आदि भोजन), पान (पेय पदार्थ), खादिम (सूखे मेवे), स्वादिम (मुखवास) आदि। त्रिविध आहार का त्याग करने वाला पानी की छूट रखता है तथा चतुर्विध आहार का त्याग करने वाला पानी भी नहीं पीता।

2. इंगिणीमरण

भक्त-प्रत्याख्यान में त्रिविध या चतुर्विध आहार का त्याग किया जाता है किन्तु इंगिणीमरण में चतुर्विध आहार का त्याग अनिवार्य है। भक्त-प्रत्याख्यान संधारा करने वाला एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक गांव से दूसरे गांव भी जा सकता है तथा किसी भी प्रकार की शारीरिक सेवा पारिवारिक या अन्यजनों से ले सकता है।

इंगिणीमरण संधारा स्वीकार करने वाला एक निश्चित भू-भाग में रहता है, जैसे अपने कमरे तक या घर तक तथा किसी भी प्रकार की सेवा वह किसी से भी नहीं लेता, अपने सभी कार्य स्वयं करता है।

3. पादोपगमन

पादोपगमन संधारा उत्कृष्ट संधारा है। इसमें चतुर्विध आहार का त्याग किया जाता है तथा संधारा करते समय वह जिस स्थान विशेष पर होता है, वहीं पर कायोत्सर्ग में स्थिर हो जाता है। जिस प्रकार वृक्ष से टूटकर नीचे गिरी हुई डाली बिल्कुल स्थिर रहती है, उसी प्रकार इस संधारा में सांध्यक पूर्ण स्थिर रहता है। हलन-चलन नहीं करता। वह अपने शरीर की परिचर्या न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है। इस प्रकार इस संधारा को स्वीकार करने वाला मृत्यु-पर्यन्त शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह स्थिर रहता है।

संलेखना : संधारा कब करना चाहिए

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया—जब तक शरीर में शक्ति है, उससे नए-नए गुणों की उपलब्धि हो रही है, तब तक जीवन का पोषण करना चाहिए। जब वह न हो तब विचारपूर्वक इस शरीर का ध्वंस कर देना चाहिए अर्थात् संलेखना-संधारा स्वीकार कर लेना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने लिखा—जिसका प्रतिकार न किया जा सके ऐसे असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग के समय, दुर्भिक्ष, जरा एवं रुग्णस्थिति में या अन्य किसी कारण के उपस्थित होने पर संलेखना-संधारा स्वीकार करना चाहिए। संलेखना ग्रहण करने से पूर्व इस बात की जानकारी करनी आवश्यक है कि जीवन और मरण की अवधि कितनी है। यदि शरीर रुग्ण हो गया है पर जीवन की अवधि लंबी हो तो संलेखना-संधारा करने का विधान नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि संलेखना-संधारा अन्तिम समय में ही क्यों किया जाता है? जैन दर्शन में यह कहा गया—‘जल्लेसे मरइ, तल्लेसे उवज्जइ’ अर्थात् जीव जिस लेश्या (भावधारा) में मरता है, वह अपने अगले जन्म में उसी लेश्या का धारक होकर देव, मनुष्य आदि गतियों में उत्पन्न होता है। इस प्रकार समाधिमरण को प्राप्त होने वाले व्यक्ति का पुनर्जन्म निश्चित रूप से अच्छा होता है। हमारा अगला जन्म कैसा होगा, इसे जानने का माध्यम है—मृत्यु के समय हमारी भावधारा कैसी है? भावधारा अच्छी होने पर सुगति, भावधारा खराब होने पर दुर्गति होती है। अतः व्यक्ति को अन्तिम समय में अपनी भावधारा अच्छी रखनी चाहिए। अन्तिम समय में धन, परिवार आदि की मोह माया को छोड़ देना चाहिए। किसी के प्रति भी बुरे भाव, राग-द्वेष के भाव नहीं रखने चाहिए। संधारा भावधारा को अच्छा बनाये रखने का एक उपक्रम है।

संलेखना की विधि

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में संलेखना के विषय में यत्किंचित् मतभेद है, पर दोनों ही परम्पराओं का तात्पर्य एक सदृश है। संलेखना में जो तपविधि का प्रतिपादन किया गया है, उससे यह नहीं समझना चाहिए कि तप ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मन्दता तथा अप्रशस्त भावों का परित्याग आवश्यक है। तप का जो क्रम प्रतिपादित किया गया है, उसमें भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से परिवर्तन किया जा सकता है।

संलेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का माना गया है। मध्यम काल एक वर्ष का तथा जघन्य काल छः महीने का है। उत्कृष्ट संलेखना की विधि इस प्रकार है—

संलेखना करने वाला प्रथम चार वर्षों में चतुर्थ (उपवास), षष्ठ (दो दिन का उपवास), अष्टम (तीन दिन का उपवास) आदि तप की

उत्कृष्ट साधना करता रहे तथा पारणे में शुद्ध आहार ग्रहण करे। फिर अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध प्रकार से तप करता रहे और पारणे में 'विगय' अर्थात् दूध, दही, घी, तेल, चीनी आदि का परित्याग करे। नौवें और दसवें वर्ष में उपवास करे तथा पारणे में आयंबिल (दिन में एक बार एक ही अनाज को खाना) तप करे तथा आयंबिल में भी ऊनोदरी तप करे। अगले छः माह में उपवास, दो, तीन, चार आदि दिन का उपवास करे तथा पारणे में आयंबिल तप करे। संलेखना के बारहवें वर्ष के संबंध में विभिन्न आचार्यों के अलग-अलग मत रहे हैं। आचार्य जिनदासगणी के अनुसार बारहवें वर्ष में ऊष्ण जल के आहार के साथ हायमान आयंबिल तप करे। हायमान से तात्पर्य है निरन्तर भोजन और पानी की मात्रा न्यून करते जाना। वर्ष के अन्त में इस स्थिति में पहुंच जाये कि एक दाना अन्न और एक बूंद पानी ग्रहण करे। प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ के अनुसार भी बारहवें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करना चाहिए। एक-एक कवल कम करते-करते जब एक कवल आहार पर आ जाएं तब एक-एक दाना कम करें और अंतिम चरण में अनाज का एक दाना ग्रहण करें। इस प्रकार अनशन की स्थिति पहुंचने पर अनशन (संधारा) स्वीकार करे।

संधारे की विधि

संलेखना के पश्चात् संधारा किया जाता है। संधारा की विधि इस प्रकार है—सर्वप्रथम किसी निरवद्य-शुद्ध स्थान में अपना आसन लगायें और फिर पूर्व या उत्तर दिशा में अपना मुंह करके इस प्रकार संधारा स्वीकार करें—सर्वप्रथम तीन बार नमस्कार महामंत्र बोले, फिर वन्दना, इच्छाकारेणं....., तस्स उत्तरी करणेणं....., लोगस्स का पाठ बोले। उसके पश्चात् अहं भंते! अपच्छिम मारणंतिय संलेहणा-झूसणां आराहणाए आरोहेमि अर्थात् 'हे भगवन्! अब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना-संधारा का प्रीतिपूर्वक

सेवन और आराधना करता हूँ' इस प्रकार प्रतिज्ञा ग्रहण करें। तदुपरान्त मैं अभी से सागरी या आगाररहित संथारा स्वीकार करता हूँ। चारों आहार का त्याग करता हूँ, अठारह पापस्थानों का त्याग करता हूँ।

इसके पश्चात् जो-जो नियम-व्रत ले रखे हैं, उनमें जो त्रुटियाँ हुई हों, उनकी आलोचना करता है। सभी से क्षमायाचना कर शुद्ध और शल्यरहित हो जाता है।

न केवल अपने पारिवारिक जनों से अपितु अपने शरीर से भी ममत्व छोड़ देता है। संथारा स्वीकार करने का मतलब है—अपनी आत्मा के प्रति पूर्ण समर्पण, शरीर से ऊपर उठकर आत्मस्वरूप में पूर्ण तल्लीनता। संथारा स्वीकार करने वाला बाह्य पदार्थों से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है।

इस प्रकार संलेखना के पश्चात् संथारा स्वीकार किया जाता है, किन्तु यदि कोई आकस्मिक कारण आ जाता है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखते हुए संलेखना के बिना भी संथारा ग्रहण कर समाधिमरण का वरण किया जाता है।

संलेखना : संथारा के अतिचार

बाह्य वस्तुओं से, परिवार से सम्बन्ध विच्छेद कर देने पर तथा सावधानी रखने पर भी प्रमाद या अज्ञान के कारण जिन दोषों के लगने की संभावना रहती है, उन्हें अतिचार कहा जाता है, जैसे संथारे में कीर्ति, प्रशंसा, सम्मान, स्वर्ण प्राप्ति आदि की भावना का होना अतिचार है। साधक को इनसे बचने का प्रयास करना चाहिए।

संलेखना : संथारा के पांच अतिचार हैं—

1. **इहलोक-आशंसा प्रयोग**—धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकांक्षा करना, लौकिक सुख प्राप्ति की इच्छा करना, इहलोक-आशंसा प्रयोग अतिचार है।

2. परलोक-आशंसा प्रयोग—परलोक सम्बन्धी स्वर्ग-सुख आदि प्राप्ति की इच्छा करना, परलोक-आशंसा अतिचार प्रयोग है।

3. जीवन-आशंसा प्रयोग—अधिक समय तक जीने की आकांक्षा करना, जीवन-आशंसा प्रयोग अतिचार है।

4. मरण-आशंसा प्रयोग—संलेखना-संधारा की कठिनाई से घबराकर शीघ्र मरने की इच्छा करना, मरण आशंसा प्रयोग अतिचार है।

5. कामभोग-आशंसा प्रयोग—कामभोगों के प्राप्ति की आकांक्षा करना, कामभोग-आशंसा प्रयोग अतिचार है।

उक्त प्रकार की इच्छाएँ करने से साधक का संलेखना व्रत दूषित होता है। संलेखना-संधारा की साधना करने वाले साधक को इहलोक या परलोक की आकांक्षा, जीने या मरने की आकांक्षा तथा कामभोगों की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।

संलेखना : संधारा का महत्त्व

श्रावक के तीन मनोरथों में 'संधारा' तीसरा मनोरथ है। श्रावक जीवन भर यह संकल्प करता है कि मैं अन्तिम समय में अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना-संधारा व्रत स्वीकार करूंगा। अन्तिम समय में संलेखना संधारा पूर्वक समाधिमरण को प्राप्त होने वाला श्रावक या श्रमण संसार के सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है। उसकी निश्चित रूप से सुगति होती है। वह अधिक जन्मों तक संसार में परिभ्रमण नहीं करता। संधारे के महत्त्व को बताते हुए लिखा गया—जीवन भर लम्बी-लम्बी तपस्या करने से या अहिंसा आदि व्रतों को धारण करने से जो फल प्राप्त नहीं होता वह फल अन्तिम समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने से प्राप्त होता है। इसलिए सभी को यह भावना मन में रखनी चाहिए कि जीवन के अन्तिम समय में मुझे संधारा जरूर आये, भले ही दो मिनट के लिए ही क्यों न आये।

आचार्य समन्तभद्र के अनुसार जीवन में आचरित तपों का फल अन्त समय में गृहीत संलेखना-संधारा ही है।

संधारा आत्महत्या नहीं है

समाधिमरण की अवधारणा से अनभिज्ञ कई विज्ञानों का यह आक्षेप है कि समाधिमरण आत्महत्या है। उनका कहना है कि जैन परम्परा का यह मानना है कि जीने की आकांक्षा या मरने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए? तो क्या संधारा करना मरने की आकांक्षा नहीं है?

जैन दर्शन में संधारा के पीछे रही भावना को यदि सही ढंग से समझ लिया जाए तो यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि संधारा मरने की आकांक्षा या आत्महत्या नहीं है। व्यक्ति आत्महत्या क्रोध के वशीभूत होकर, सम्मान पर गहरी चोट पहुंचने पर अथवा जीवन से निराश होने पर करता है। ये सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं। जबकि संधारा चित्त में समत्व की अवस्था है। व्यक्ति आवेश में आकर संधारा नहीं लेता और न ही मरने की भावना से संधारा लेता है। इसलिए वह आत्महत्या नहीं है।

जिस प्रकार बड़ी सावधानीपूर्वक रोगी की शल्यचिकित्सा करने पर भी यदि रोगी मर जाता है तो डॉक्टर को हत्यारा नहीं कहा जाता उसी प्रकार संधारा में होने वाली मृत्यु आत्महत्या नहीं है।

दूसरी बात आत्महत्या करने वाले के मन में मरने की इच्छा रहती है किन्तु संधारा करने वाले के मन में न जीने की इच्छा होती है और न मरने की आकांक्षा होती है। संधारा स्वीकार करने वाला यह संकल्प स्वीकार करता है कि मैं जीने और मरने की आकांक्षा से रहित होकर आत्मरमण करूँगा। मरने की आकांक्षा करना समाधिमरण का दोष माना गया है अतः संधारा को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। संधारा में आहार-आदि के त्याग द्वारा मृत्यु की

चाह नहीं अपितु देह-पोषण का विसर्जन किया जाता है। आत्महत्या जीवन से ऊबकर की जाती है, उसके मूल में कायरता है। जबकि संथारा द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत है। भय या कायरता नहीं अपितु साहसपूर्ण सामना है। इस प्रकार संथारा और आत्महत्या का उद्देश्य अलग-अलग होने से संथारा को आत्महत्या नहीं कहा जा सकता। संथारा समाधिपूर्वक मृत्यु का वरण करने की कला है। यह मृत्यु से घबराना नहीं अपितु हंसते हुए मृत्यु का स्वागत करना है।

प्रश्नावली

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. श्रमण किसे कहते हैं, उसके आचार का विवेचन करें।
2. श्रावकाचार पर एक निबन्ध लिखें।
3. श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन करें।
4. जैन जीवनशैली पर प्रकाश डालें।
5. जैन दर्शन के अनुसार इच्छापरिमाणव्रत को स्पष्ट करते हुए उसके औचित्य पर प्रकाश डालें।
6. संलेखना किसे कहते हैं? संलेखना की विधि का विवेचन करें।
7. संथारा किसे कहते हैं? सिद्ध करें कि संथारा आत्महत्या नहीं है।

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

1. पांच समिति को समझाएँ।
2. चार शिक्षाव्रत पर प्रकाश डालें।
3. परिग्रह के कारणों का विवेचन करें।

इकाई-5

आचार मीमांसा

जैन धर्म में अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। अहिंसा जैन दर्शन का मूल आधार और प्राण है। अहिंसा वह धुरी है, जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। यह वर्तमान युग की समस्त समस्याओं का समाधान है। अहिंसा का विकास होने पर न भ्रष्टाचार संभव है और न अपराध संभव है।

अहिंसा का जीवन-व्यवहार में आचरण कैसे हो? इसके लिए आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा प्रशिक्षण की प्रायोगिक प्रक्रिया प्रस्तुत की। बिना नैतिकता के अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। नैतिकता के विकास के लिए आचार्य तुलसी ने अणुव्रत के नियम बनाए, जिनकी स्वस्थ समाज संरचना में अहं भूमिका है। प्रस्तुत इकाई में अहिंसा का स्वरूप, पशु-पक्षियों के प्रति क्रूरता बनाम आत्मौपम्यता, अहिंसा-प्रशिक्षण, अणुव्रत-आन्दोलन, अणुव्रत आचार-संहिता, स्वस्थ समाज संरचना का आधार—अणुव्रत और अणुव्रत के कार्यक्षेत्र, का विवेचन किया गया है।

1. अहिंसा का स्वरूप

मानव जीवन के दो आधार स्तम्भ हैं—आचार और विचार। आचार जीवन का व्यावहारिक पक्ष है और विचार सैद्धान्तिक। आदमी जैसा सोचता है, वैसा करता है और जैसा करता है, वैसा सोचता भी है। आचार और विचार—दोनों एक-दूसरे पर आधारित हैं। जैन दर्शन की आचार-मीमांसा अहिंसा पर आधारित है। अहिंसा परमो धर्म: उनका मुख्य घोष है। अहिंसक आचार-विचार में ही मानव का विकास निहित है। सत्य, अचौर्य आदि व्रत अहिंसा के ही पोषक हैं। जैन धर्म में अहिंसा को सर्वभूतक्षेमकरी—सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली और मातृ-स्थानीय माना गया है। जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ

इसके अन्तर्गत हैं। अतः अच्छे आचार का पालन करने के लिए अहिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है और अहिंसा को समझने के लिए सबसे पहले हिंसा के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

हिंसा की परिभाषा

तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने हिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा है—‘प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा’ अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है, वह हिंसा है। जैन दर्शन में दस प्राण माने गए हैं, यथा—श्रोत्रेन्द्रिय प्राण, चक्षुरिन्द्रिय प्राण, घ्राणेन्द्रिय प्राण, रसनेन्द्रिय प्राण, स्पर्शनेन्द्रिय प्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कार्यबल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुष्य प्राण। श्रोत्रेन्द्रिय आदि इन्द्रियों का जो बाहरी रूप है, उसे द्रव्यप्राण कहते हैं और उनके भीतर सुनने, देखने आदि की जो क्षमता है, उसे भावप्राण कहते हैं। इन दस प्राणों में से किसी भी प्राण का घात करना हिंसा है। हिंसा की उपर्युक्त परिभाषा से यह भी स्पष्ट होता है कि हिंसा में सर्वप्रथम मन का व्यापार होता है, फिर वचन का और फिर काय का। प्रमादवश व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जागती है, जो हिंसा करने के उद्देश्य को जन्म देती है, फिर वह कष्टदायक वचन का प्रयोग करता है और यदि इससे भी आगे बढ़ता है तो जिसके प्रति उसके मन में प्रमाद जागृत हुआ था, उस जीव का प्राणघात करता है।

हिंसा का स्वरूप

हिंसा की परिभाषा से स्पष्ट है कि हिंसा के दो रूप होते हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। मन में किसी के प्रति राग-द्वेष का भाव आना या किसी प्राणी को मारने का संकल्प करना भावहिंसा है। जहाँ किसी को मारने का मन में संकल्प नहीं किया जाता किन्तु अनायास किसी के प्राणों का घात हो जाता है, वहाँ द्रव्यहिंसा है।

इस प्रकार मन में हिंसा के भाव आना भावहिंसा है तथा भावहिंसा के परिणामस्वरूप जो भी घटनाएँ घटती हैं, वे द्रव्यहिंसा की कोटि में आती हैं।

जैन दर्शन में भावहिंसा और द्रव्यहिंसा को लेकर हिंसा के चार विकल्प किये गए हैं—

1. भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों।
2. भावहिंसा पर द्रव्यहिंसा नहीं।
3. भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा।
4. न भावहिंसा और न द्रव्यहिंसा।

इन चारों विकल्पों को उदाहरण से समझ सकते हैं। पहले विकल्प का उदाहरण—जैसे कोई व्यक्ति सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा लेता है और सर्प को मार डालता है। यहाँ सर्प को मारने का उद्देश्य भावहिंसा और सर्प को मार डालना द्रव्यहिंसा है।

यदि किसी व्यक्ति ने सर्प को मारने के उद्देश्य से डंडा उठाया पर सर्प भाग गया, सर्प का प्राणघात वह नहीं कर पाया। यहां भावहिंसा है पर द्रव्यहिंसा नहीं।

यदि कोई व्यक्ति कटे हुए धान के पौधों को पीट रहा है और संयोगवश उसके पीटने से पौधों के नीचे बैठा हुआ सर्प अनजाने में चोट खाकर मर जाए तो वहां पर भावहिंसा नहीं पर द्रव्यहिंसा है। क्योंकि धान पीटने वाले व्यक्ति के मन में सर्प को मारने की कोई भावना नहीं थी।

यदि कोई व्यक्ति सर्प को देखकर यह सोचता है कि यह भी एक प्राणी है अतः स्वच्छन्द विचरण कर रहा है। उसे न तो मारने की सोचता है और न मारता है तो यहाँ न भावहिंसा है और न द्रव्यहिंसा है।

सामान्यतया द्रव्यहिंसा को ही हिंसा माना जाता है। मन में भले ही बुरे विचार हैं, मारने का संकल्प है पर जब तक वह किसी को शारीरिक हानि नहीं पहुंचाता, तब तक वह हिंसा करने का दोषी नहीं समझा जाता। किन्तु जैन दर्शन में हिंसा का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया और कहा गया—भावहिंसा ही वास्तविक हिंसा है। कर्म-बंधन का कारण है। भावहिंसा के बिना यदि मात्र द्रव्यहिंसा होती है तो वह कर्म-बंधन का कारण नहीं बनती है।

हिंसा के कारण

हिंसा एक है पर उसके कारण अनेक हैं। मनोविज्ञान के अनुसार हमारी मौलिक मनोवृत्तियां हिंसा का कारण हैं। कर्मशास्त्र के अनुसार हिंसा का कारण हमारे पूर्वकृत कर्मों का विपाक है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से हिंसा के प्रेरक तत्त्व हमारे जीन एवं रसायन में विद्यमान हैं। निमित्तों का योग पाकर वे रसायन हिंसात्मक प्रवृत्ति के कारण बन जाते हैं। इस प्रकार हिंसा के अनेक कारण बन सकते हैं, जिनमें कुछ मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

हिंसा : आन्तरिक कारक तत्त्व

1. शरीर के स्तर पर

❖ नाडीतंत्रीय असंतुलन,

❖ रासायनिक असंतुलन।

2. सूक्ष्म शरीर के स्तर पर

❖ कर्म-विपाक,

❖ मलिन आभामंडल।

3. चेतना के स्तर पर

❖ मानसिक तनाव,

- ❖ भावनात्मक तनाव,
- ❖ निषेधात्मक दृष्टिकोण,
- ❖ मानसिक चंचलता,
- ❖ हीनभावना,
- ❖ वैचारिक आग्रह।

हिंसा : बाह्य कारक तत्त्व

- ❖ असन्तुलित समाज व्यवस्था,
- ❖ असन्तुलित राजनीतिक व्यवस्था,
- ❖ जातीय और रंगभेद की समस्या,
- ❖ मानवीय संबंधों में असंतुलन,
- ❖ आर्थिक स्पर्धा और अभाव,
- ❖ समाचार-पत्र, मीडिया।

1. हिंसा का कारण अभाव

जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं—रोटी, कपड़ा और मकान। इनका अभाव होने पर व्यक्ति हिंसक बन जाता है। भूखा व्यक्ति, गरीब व्यक्ति अपने जीवन को चलाने के लिए हिंसा का सहारा लेता है। क्योंकि जिजीविषा-जीने की चाह प्राणी मात्र की मौलिक मनोवृत्ति है।

2. असंतुलित आहार

हिंसा का कारण है—असंतुलित आहार। मनुष्य के आहार का उसके स्वभाव के साथ गहरा संबंध होता है। इसीलिए कहा जाता है—जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन। तामसिक और राजसिक भोजन व्यक्ति के भीतर मूर्च्छा और चंचलता पैदा करते हैं। मूर्च्छा और चंचलता हिंसा को बढ़ावा देती हैं।

3. तनाव

हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है—तनाव। वही व्यक्ति हिंसा करता है, जो तनाव से ज्यादा ग्रस्त होता है। शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक के भेद से तनाव के तीन प्रकार हैं। भावनात्मक तनाव आवेशजन्य और अवसादजन्य होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से होने वाला तनाव आवेशजन्य तनाव है। निराशा, निष्क्रियता और निठल्लापन आदि अवसादजन्य तनाव हैं। ये दोनों प्रकार के तनाव व्यक्ति को हिंसा की ओर ले जाते हैं।

4. निषेधात्मक भाव

हिंसा का एक बहुत बड़ा कारण है—निषेधात्मक भाव। घृणा, ईर्ष्या, भय, कामवासना—ये सब निषेधात्मक भाव हैं। इनके वशीभूत होकर भी व्यक्ति हिंसा करता है। आज जाति, रंग आदि के आधार पर जो हिंसा हो रही है, उसके पीछे घृणा का भाव ही प्रबल है।

5. रासायनिक असंतुलन

हिंसा का एक बड़ा कारक तत्त्व है—रासायनिक असंतुलन। हिंसा केवल बाहरी कारणों से ही नहीं होती, इसके भीतरी कारण भी हैं और वह है—रासायनिक असंतुलन। हमारी ग्रंथियों में रसायन बनते हैं। वे संतुलित अवस्था में होने पर जीवन में संतुलन स्थापित रहता है किन्तु इन रसायनों में असंतुलन होने पर व्यक्ति का मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है और उसके भीतर हिंसा की वृत्तियाँ जाग जाती हैं।

6. नाडीतंत्रीय असंतुलन

नाडीतंत्रीय असंतुलन भी हिंसा का एक कारण है। नाडीतंत्रीय असंतुलन होने पर व्यक्ति अकारण ही हिंसा करने लगता है। मारने का कोई प्रयोजन नहीं होता और न ही कोई बदला लेने की भावना

होती है। नाडीतंत्रीय असंतुलन के कारण हिंसा करना, मारना व्यक्ति के आनन्द और मनोरंजन का विषय बन जाता है।

7. कर्म का विपाक

बहुत बार बाहर में हिंसा का कोई दृश्य कारण नहीं होता। व्यक्ति शांति से बैठा हुआ है, किन्तु कर्म का संस्कार अचानक इतना प्रबल विपाक (उदय) में आ जाता है कि व्यक्ति बिना कारण, बिना परिस्थिति हिंसा करने के लिए मजबूर हो जाता है।

हिंसा के भेद

हिंसा की उत्पत्ति का मूल कारण है—कषाय। ये कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हीं कषायों के कारण सरंभ, समारंभ तथा आरम्भ हिंसा होती है। सरंभ, समारंभ और आरम्भ के भेद से हिंसा के तीन प्रकार हैं—

1. सरंभ—हिंसा करने का मन में जो विचार आता है, उसे सरंभ कहते हैं।
2. समारंभ—हिंसा करने के लिए जो उपक्रम किया जाता है, उसे समारंभ कहते हैं।
3. आरम्भ—प्राणघात तक जो क्रियाएँ की जाती हैं, उसे आरम्भ कहते हैं।

इस प्रकार चार कषाय को सरंभ आदि तीन से गुणा करने पर हिंसा के बारह प्रकार हो जाते हैं। जैन दर्शन में हिंसा मन, वचन और काया से होती है अतः बारह को तीन से पुनः गुणा करने पर हिंसा के छत्तीस भेद हो जाते हैं। मन, वचन, काय—इन तीनों योग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। हिंसा स्वयं करना, अन्य व्यक्ति से करवाना तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—ये तीन करण कहलाते हैं। इस प्रकार हिंसा के छत्तीस भेद को इन तीन करण से गुणा करने पर 108 भेद माने जाते हैं।

जैन विचारकों ने हिंसा को दूसरी तरह से विभाजित कर उसके चार भेद बताये हैं—

1. आरंभजा—जीवन निर्वाह के निमित्त भोजन आदि तैयार करने में जो हिंसा होती है, उसे आरंभजा हिंसा कहते हैं।

2. उद्योगजा—खेती-बाड़ी, आजीविका के उपार्जन अथवा उद्योग में व्यवसाय के निमित्त जो हिंसा होती है, उसे उद्योगजा हिंसा कहते हैं।

3. विरोधजा—समाज, राष्ट्र आदि पर हुए शत्रुओं या अत्याचारियों के आक्रमण का विरोध करने में जो हिंसा होती है, उसे विरोधजा हिंसा कहते हैं।

4. संकल्पजा—संकल्पपूर्वक या पहले से सोच-विचार कर मारने का उद्देश्य बनाकर किसी के प्राण का हनन करना संकल्पजा हिंसा है।

प्रथम तीन प्रकार की हिंसा को श्रावक पूर्णतः नहीं छोड़ सकता, आंशिक रूप से छोड़ता है किन्तु संकल्पजा हिंसा उसके लिए सर्वथा वर्जनीय है।

हिंसा के स्वरूप और कारणों को समझने के बाद अहिंसा का स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है।

अहिंसा की परिभाषा

अहिंसा शब्द का सीधा-सा अर्थ है—हिंसा न करना। संसार के सभी जीव स्थावरकाय और त्रसकाय के भेद से दो भागों में विभक्त हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये स्थावर जीव हैं तथा जिनमें चलने-फिरने का सामर्थ्य होता है, वे त्रस-जीव हैं। त्रस या स्थावर किसी भी जीव की हिंसा न करना ही अहिंसा है।

अहिंसा को परिभाषित करते हुए लिखा गया—‘प्राणानामनतिपातः सर्वभूतेषु संयमः अप्रमादो वा अहिंसा’। अहिंसा की इस परिभाषा से तीन बातें फलित होती हैं—

1. प्राणों का हनन न करना—जैन दर्शन में श्रोत्रेन्द्रिय आदि दस प्राण माने गए हैं। उनमें से किसी भी प्राण का हनन न करना अहिंसा है।

2. प्राणीमात्र के प्रति संयम रखना—सब जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार अहिंसा है।

3. अप्रमत्त रहना—प्रमाद हिंसा और अप्रमाद अहिंसा है।

अप्रमत्त अवस्था में जागरूकता इतनी बढ़ जाती है कि वह प्रमादवश कोई भी हिंसा नहीं करता।

इस प्रकार जैन दर्शन में हिंसा का संबंध मात्र प्राण-वियोजन करने से नहीं है, उसका व्यापक अर्थ है। किसी भी जीव को उत्पीड़ित करना, शोषण करना, अतिरिक्त श्रम लेना, अनुचित लाभ उठाना, मर्मभेदी कटु शब्द बोलना, अपमानित करना, दूसरों के अधिकारों में कटौती करना आदि-आदि विषम व्यवहार भी हिंसा है। असद् चिन्तन एवं असत्प्रवृत्ति मात्र हिंसा है। सद्चिन्तन और सत्प्रवृत्ति मात्र अहिंसा है।

जैन दर्शन में हिंसा और अहिंसा के भेद का आधार राग-द्वेष है। जहां राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति है, वहां किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन न होने पर भी भाव-हिंसा है और जहां पर राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं है, वहां पर किसी भी प्राणी के प्राण का वियोजन हो जाने पर भी भावहिंसा नहीं है, मात्र द्रव्यहिंसा है।

अहिंसा के प्रकार

अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ हिंसा न करने से लिया जाता

है, किन्तु इसके पारिभाषिक अर्थ निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों हैं अतः निषेधात्मक और विधेयात्मक के भेद से अहिंसा के दो प्रकार हो जाते हैं।

निषेधात्मक अहिंसा

राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति नहीं करना, प्राण-वध नहीं करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है।

जैन दर्शन के अनुसार तीन योग (मन, वचन, काय) और तीन करण (करना, कराना, अनुमोदन करना) से हिंसा न करना ही पूर्ण अहिंसा है। इन तीन योग और तीन करण के संयोग से अहिंसा के नौ प्रकार बन जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. मन से हिंसा न करना।
2. मन से हिंसा न करवाना।
3. मन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
4. वचन से हिंसा न करना।
5. वचन से हिंसा न करवाना।
6. वचन से हिंसा का अनुमोदन न करना।
7. काय से हिंसा न करना।
8. काय से हिंसा न करवाना।
9. काय से हिंसा का अनुमोदन न करना।

इन नौ प्रकारों से किसी भी प्राणी का घात न करना अहिंसा है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है। अहिंसा का यह निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक प्रचलित है किन्तु अहिंसा का विधेयात्मक रूप भी है।

विधेयात्मक अहिंसा

सत्प्रवृत्ति करना, स्वाध्याय करना, दान करना, ज्ञान-चर्चा

आदि-आदि आत्महितकारी क्रिया करना विधेयात्मक अहिंसा है। निषेधात्मक अहिंसा में केवल हिंसा का वर्जन होता है और विधेयात्मक अहिंसा में सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्त्यात्मक सक्रियता होती है।

जैन दर्शन के अनुसार सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता अतः सब जीवों को अपने समान समझो और किसी को हानि मत पहुंचाओ। इस कथन में अहिंसा का द्वयर्थी सिद्धान्त—विधेयात्मक और निषेधात्मक सन्निहित है। विधेयात्मक में एकता का संदेश है—‘सबमें अपने आपको देखो’। निषेधात्मक उससे उत्पन्न होता है—‘किसी को भी हानि मत पहुंचाओ’। सबमें अपने आपको देखने का अर्थ है—सबको हानि पहुंचाने से बचाना। यह हानि से बचाना, सबमें एक की कल्पना करने से विकसित होता है। अतः अहिंसा का केवल निषेधात्मक स्वरूप ही नहीं विधेयात्मक स्वरूप भी है।

अहिंसा के चार विकल्प

अहिंसा की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि अहिंसा के दो रूप होते हैं—भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा। मन में यह संकल्प करना कि मैं किसी भी प्राणी का घात नहीं करूंगा, भाव अहिंसा है तथा मन से किये गए संकल्प को क्रिया रूप देना अर्थात् वचन और काय से उसका पालन करना द्रव्य अहिंसा है। भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा के आधार पर अहिंसा के चार विकल्प इस प्रकार बन सकते हैं—

- ❖ भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा दोनों।
- ❖ भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं।
- ❖ भाव अहिंसा नहीं किन्तु द्रव्य अहिंसा।
- ❖ न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा।

1. भाव अहिंसा और द्रव्य अहिंसा—कोई व्यक्ति मन में संकल्प करता है कि वह किसी भी प्राणी को हिंसा नहीं करेगा और

सचमुच वह ऐसा करता भी है तो ऐसी अहिंसा भावरूप और द्रव्यरूप दोनों ही हुई।

2. भाव अहिंसा किन्तु द्रव्य अहिंसा नहीं—एक मुनि किसी भी प्राणी की हिंसा न करने का संकल्प लेता है और ईर्या-समिति पूर्वक अपनी राह पर देखते हुए चलता है, फिर भी बहुत से जीवों का अनजाने में घात हो जाता है। यहाँ पर भाव अहिंसा तो है पर द्रव्य अहिंसा नहीं है।

3. भाव अहिंसा नहीं पर द्रव्य अहिंसा—एक मछुआरा मछली मारने के उद्देश्य से जाल फैलाता है, किन्तु संयोगवश कभी-कभी वह एक भी मछली नहीं पकड़ पाता है। यहाँ पर भाव अहिंसा नहीं है किन्तु द्रव्य अहिंसा है।

4. न भाव अहिंसा और न द्रव्य अहिंसा—मांस आदि के लोभ से आदमी जब मृग आदि जीवों को मारता है तो उसके द्वारा न भाव अहिंसा होती है और न द्रव्य अहिंसा ही होती है।

अहिंसा का पालन क्यों?

अहिंसा पालन करने का व्यावहारिक हेतु यह है कि सभी जीव जीना चाहते हैं, सभी को अपना जीवन प्रिय होता है। मरना कोई नहीं चाहता। मारने से उन्हें कष्ट पहुँचता है। किसी को कष्ट पहुँचाना उचित नहीं अतः अहिंसा का पालन करना चाहिए। अहिंसा पालन करने का यह व्यावहारिक कारण है, प्रधान कारण नहीं। अहिंसा-पालन करने का नैश्चयिक या प्रधान कारण है—आत्म-कल्याण। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों का अहित करने से पहले अपना अहित करता है। हिंसा का भाव मन में लाकर वह अपनी आत्मा का पतन करता है, क्योंकि मन में हिंसा के भाव आने मात्र से पापकर्म का बंधन हो जाता है, आत्मा मलिन हो जाती है। हिंसा करने वाला व्यक्ति दूसरों से वैरभाव बढ़ाकर उन्हें अपना शत्रु बना लेता है। इसके

विपरीत अहिंसा का पालन करने वाला सभी प्राणियों को समान दृष्टि से देखता है, मन में किसी के प्रति द्वेषभाव नहीं लाता। मन के दूषित न होने पर उसकी आत्मा भी शुद्ध एवं पवित्र रहती है। आत्मशुद्धि के कारण वह मोक्षमार्ग पर अग्रसर होता है। अहिंसा के पालन से वह जन्म-मरण के बंधन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अहिंसा पालन करने के दो कारण हैं। व्यावहारिक कारण है—अन्य प्राणियों के प्रति उपकार और नैश्चयिक कारण है—आत्मकल्याण या मोक्षप्राप्ति।

2. पशु-पक्षियों के प्रति क्रूरता बनाम आत्मौपम्यता

जैन दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसके अनुसार समस्त प्राणियों की आत्मा समान है। चाहे वह मनुष्य की आत्मा हो या पशु-पक्षी की आत्मा हो। जैसे मनुष्य अपने प्रति क्रूर व्यवहार पसन्द नहीं करता, वैसे ही पशु-पक्षी भी अपने प्रति क्रूर व्यवहार पसन्द नहीं करते। किन्तु मनुष्य ने आज अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए पशु-पक्षियों के साथ क्रूर व्यवहार करना शुरू कर दिया, जिससे पशु-पक्षियों को तो कष्ट होता ही है किन्तु उसका दुष्परिणाम मानव मात्र को भोगना पड़ रहा है। इसलिए यह बहुत आवश्यक हो गया है कि मनुष्य पशु-पक्षियों के साथ भी आत्मतुल्य व्यवहार करे। अनावश्यक उनके साथ क्रूर व्यवहार न करे। आत्मतुला के भाव को विकसित करने के साथ-साथ यह जानना भी आवश्यक है कि किन-किन क्षेत्रों में पशु-पक्षियों के साथ अनावश्यक क्रूर व्यवहार हो रहा है। प्रो. बच्छराज दुगड ने 'अहिंसा का व्यवहार' नामक अपनी पुस्तक में मनुष्य द्वारा पशु-पक्षियों के प्रति की जाने वाली क्रूरता के विविध क्षेत्रों को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से सोदाहरण समझाया है, जो इस प्रकार है—

1. पशु-पक्षियों के आवास का क्रूरतापूर्ण विनाश।
2. भोजन, वस्त्र और मनोरंजन हेतु क्रूरता।

3. फैशन, सुख-सुविधाओं हेतु पशु-पक्षियों के प्रति क्रूरता।
4. औषधियों के आविष्कार एवं निर्माण हेतु क्रूरता।
5. फिल्मों में पशुओं के प्रति क्रूर व्यवहार।

1. पशु-पक्षियों के आवास का क्रूरतापूर्ण विनाश

मनुष्य द्वारा स्वयं की बढ़ती जनसंख्या की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पशु-पक्षियों के प्राकृतिक आवासों को क्रूरतापूर्ण तरीकों से तहस-नहस एवं नष्ट किया गया है। इन आवासों का विनाश खेती, आवास और चारागाह जैसी आवश्यकता पूर्ति के साथ लकड़ी एवं अन्य संसाधनों की प्राप्ति हेतु किया गया है। इस विनाश का वन्य जीवों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है और एक ऐसा वातावरण नष्ट हो गया है, जो उन्हें भोजन, प्रजनन क्षेत्र तथा पक्षियों को घोंसले बनाकर अपने बच्चों का पालन करने जैसी सुविधाएँ प्रदान करता है। वन्य प्राणियों के पास ऐसी स्थिति में इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प नहीं रह जाता कि या तो वे नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बनें, पलायन कर जाएँ या नष्ट हो जाएँ। पशु-पक्षियों की इस क्रूर वास्तविकता के साथ मनुष्य यह विस्मृत कर देता है कि सभ्यताएँ वनों से प्रारम्भ होकर रेगिस्तान में समाप्त होती हैं।

भारत में 752.3 लाख हेक्टेयर भूमि को वन क्षेत्र घोषित किया गया है, इसमें से 406.1 लाख हेक्टेयर आरक्षित वन, 215.1 लाख हेक्टेयर सुरक्षित वन, 111.63 लाख हेक्टेयर गैर वर्गीकृत एवं अन्य तरह से वर्गीकृत वन हैं। इन सबके बावजूद भारत में विश्व के मात्र 2 प्रतिशत वन हैं जबकि विश्व की पशु संख्या का लगभग 13 प्रतिशत पशु भारत में है। इस नवीन क्षेत्र में निरन्तर कमी आ रही है। चंडीगढ़, दिल्ली, पांडिचेरी, लक्षद्वीप, हरियाणा आदि में उनके कुल क्षेत्रफल का अति नगण्य क्षेत्र वन हैं। जबकि

पंजाब, हरियाणा, जम्मू-कश्मीर, पश्चिमी बंगाल, बिहार, राजस्थान के क्षेत्र का कुछ मामूली प्रतिशत ही वन क्षेत्र हैं। स्पष्टतः यह परिलक्षित होता है कि जनसंख्या घनत्व के बढ़ने के साथ वनीय क्षेत्र कम होता चला जाता है और पशु-पक्षियों के इस प्राकृतिक आवास के नष्ट हो जाने से उनकी प्रजातियों व उनकी संख्या में निरन्तर कमी आती जा रही है। भारत में बाघ, सोहन चिड़िया, सुनहरी गरुड़, बतख, कश्मीरी बारहसिंघे, कस्तूरी मृग, जंगली भैंसे, घड़ियाल, राजहंस, सफेद चीते एवं बब्बर शेर, सफेद हाथी, सफेद कौवे आदि वन्य जीवों की प्रजातियां या तो लुप्त हो गई हैं या ये विलुप्ति के कगार पर हैं।

2. भोजन, वस्त्र एवं मनोरंजन हेतु क्रूरता

मांसाहार की लालसा पशु-पक्षियों के प्रति क्रूरता का जीवन्त उदाहरण है। 8 मार्च, 1997 को दैनिक नवभारत पत्र में एक शीर्षक 'मुझे कल काटा जाएगा, आप आमंत्रित हैं, राजधानी के मांस विक्रेताओं द्वारा नृशंसता की इंतहा' मानवीय क्रूरता की पराकाष्ठा को दिखाने वाला एक समाचार था। जो पशु शुद्ध शाकाहारी हैं, जो हमारे लिए अपना खून-पसीना एक करते हैं, उसे स्वाद के लिए टुकड़े-टुकड़े कर अपने पेट में डालना एक जघन्य और घृणित कार्य है।

वस्त्र आदि के लिए रेशम के कीड़ों की खेती तथा बाघ, सांप आदि की खालों के प्रयोग से फर का कोट आदि ने लाखों पशु-पक्षियों को मनुष्य की क्रूरता का शिकार बनाया है। जानवरों की खाल के उपयोग के व्यामोह ने बाघ, तेंदुए, हिरण, मगरमच्छ, सांप एवं सुंदर पंखों वाले बहुत से पक्षी असमय में ही मनुष्य की क्रूरता के शिकार आज भी होते जा रहे हैं।

मनोरंजन के लिए क्रूरताएँ कितने वेष बदलकर समाज में प्रवृष्टि हो रही है, उसका कोई लेखा-जोखा हमारे पास नहीं है। मनोरंजन

के लिए घुड़दौड़, सांडों एवं मुर्गों की लड़ाई आदि में इन पशुओं को जो यातनाएँ दी जाती हैं, उनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इस प्रकार भोजन, वस्त्र और मनोरंजन मात्र के लिए मनुष्य पशु-पक्षियों के साथ क्रूर व्यवहार कर रहा है।

3. फैशन सुख-सुविधा हेतु क्रूरता

फैशन और सुख-सुविधाओं में वृद्धि हेतु भी मनुष्य की क्रूरता पशु-पक्षियों के प्रति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। अंगोरा वस्त्र खरगोश अथवा बकरे-बकरियों की तांत से बनाया जाने वाला वस्त्र है। इसी तरह शहतूत शाले तिब्बती कुर्ंग (मृग) के ऊन से बनाई जाती है। इसी तरह फर के कोट आदि के लिए मिक, खरगोश आदि मुलायम पशुओं की खालें काम में ली जाती हैं। एक रेशमी साड़ी की प्राप्ति के लिए 3462 रेशमी कीट मौत के घाट उतार दिये जाते हैं।

सौन्दर्य प्रसाधनों से सुन्दर लगने की लालसा पूर्ति लाखों जीवों की हिंसा से होती है। शेविंग क्रीम एवं शृंगार प्रसाधनों के बनाने में लार्ड का उपयोग होता है। सूअर, भेड़ एवं मवेशी के इर्द-गिर्द लिपटी वसा को 'लार्ड' कहते हैं। त्वचा क्रीमों के लिए पशुओं के मर्भाशय से निकाले गये प्लेसेन्टा का प्रयोग होता है। शैम्पू आदि के परीक्षण के लिए प्रयुक्त सैकड़ों खरगोश अन्धे हो जाते हैं। इसी तरह दूधपेस्ट, नेलपॉलिश, नेलपॉलिश रिमूवर, लिपिस्टिक आदि लाखों जीवों की कब्रगाह पर बनते हैं।

4. औषधियों के निर्माण में पशु हिंसा

औषधियों के निर्माण में भी पशु-पक्षियों के साथ क्रूर व्यवहार खुलकर होता है। स्वस्थ पशुओं को दवाइयों से बीमार बनाकर उन्हें भिन्न-भिन्न दवाइयाँ देकर यह देखा जाता है कि किस औषधि का उन पर क्या प्रभाव पड़ता है। दवाइयों में पशुओं की चर्बी, रक्त,

मांस आदि का प्रयोग होता है। इनकी प्राप्ति के लिए पशुओं को अकाल मृत्यु का सामना करना पड़ता है। मधुमेह रोग हेतु 'इन्सुलिन' का प्रयोग किया जाता है, जिसे सूअर, भेड़ या बैल के अग्न्याशय से प्राप्त किया जाता है। त्वचा पर लगाई जाने वाली औषधियों में ग्लिसरीन का व्यापक प्रयोग होता है। लागत कम आए इस दृष्टि से पशु चर्बी से ग्लिसरीन का उत्पादन किया जाता है। जिलेटिन पशुओं की झिल्लियों, हड्डियों आदि को उबालकर प्राप्त किया जाता है। इस जिलेटिन से कैप्सूल तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार औषधियों के निर्माण में भी पशुओं के प्रति मानव का क्रूर व्यवहार प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है।

आत्मौपम्यता का विकास

आत्मौपम्यता का अर्थ है—सभी प्राणियों को अपने समान समझना। यह आत्मौपम्यता की भावना तभी विकसित हो सकती है, जब व्यक्ति अहिंसा के मर्म को समझ लेता है। भगवान् महावीर अहिंसा के उपदेष्टा थे। उन्होंने अहिंसा के सन्दर्भ में अनेक ऐसे सूत्र दिये जो आत्मतुला के भाव को विकसित करने वाले हैं। भगवान् महावीर ने एक मौलिक अवधारणा दी। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति—ये सब जीव हैं। जो इनके अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपने अस्तित्व को अस्वीकार करता है। जो इनकी हिंसा करता है, वह अपनी हिंसा करता है। इसलिए हमें किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए और उनका प्राण वियोजन नहीं करना चाहिए।

यह शाश्वत सिद्धान्त है कि सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। जैसे हमारे साथ कोई बुरा व्यवहार करता है, तो हमें अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार हम दूसरों के प्रति बुरा व्यवहार करते हैं तो उन्हें भी अच्छा नहीं लगता। इसलिए हमें वैसा ही

व्यवहार दूसरों के साथ करना चाहिए जैसा दूसरों से हम अपने लिए चाहते हैं।

आत्म-स्वरूप की दृष्टि से सभी जीव समान हैं। कोई छोटा या बड़ा नहीं है। कर्मों के अधीन हो व्यक्ति ऊँच-नीच बनता है। मालिक-नौकर बनता है। किन्तु इसके आधार पर किसी को छोटा मानकर उसका शोषण करना, उसके साथ क्रूर व्यवहार करना मानवीयता नहीं है।

भगवान् महावीर ने तो यहां तक कहा कि 'मित्री मे सव्व भूएसु' सभी प्राणियों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ मेरी शत्रुता नहीं है। इस भावना को पुष्ट करना चाहिए।

आज भोजन, वस्त्र, मनोरंजन, औषधियों के निर्माण हेतु असंख्य निरपराध जीवों की हत्या हो रही है। आंकड़े कहते हैं कि जिस अनुपात में पशुओं पर अनुसंधान के नाम पर हत्याएं हो रही हैं, यदि इसी अनुपात में मनुष्यों पर अनुसंधान हो तो चार वर्ष में पृथ्वी से मनुष्य जाति ही खत्म हो जायेगी।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने 2600 वर्ष पूर्व अहिंसा और संयम के जो सूत्र दिये। उन सूत्रों का यदि अभ्यास किया जाये तो आत्मौपम्यता की भावना का विकास किया जा सकता है।

3. अहिंसा प्रशिक्षण

अहिंसा के विकास के लिए अहिंसा के सिद्धान्त को समझना ही पर्याप्त नहीं अपितु उसके लिए प्रयोग करना आवश्यक है। आज विश्व में हिंसा के प्रशिक्षण के लिए अरबों-खरबों रुपये खर्च किये जा रहे हैं। विधिवत् हिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है किन्तु अहिंसा-प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। परिणामस्वरूप समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। आचार्य तुलसी के अनुसार हिंसा के मुकाबले में अहिंसा की शक्ति कम नहीं है, अपेक्षा है उस शक्ति को

जानने की। उनका मानना है मनुष्य के मस्तिष्क में जो हिंसा के केन्द्र हैं, उनका परिष्कार करने के लिए और अहिंसा के केन्द्र को जागृत करने के लिए प्रशिक्षण और प्रयोग की आवश्यकता है। प्रशिक्षण का संबंध उपदेश से नहीं, आचरण से है। हिंसा मत करो यह उपदेश है किन्तु जीवन-व्यवहार में अहिंसा का होना आचरण है। आचरण के लिए अहिंसा का विधिवत् प्रशिक्षण होना आवश्यक है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम प्रस्तुत किये हैं।

अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयाम

अहिंसा-प्रशिक्षण के मुख्य चार आयाम हैं—

1. हृदय-परिवर्तन,
2. दृष्टिकोण-परिवर्तन,
3. जीवनशैली-परिवर्तन,
4. आजीविकाशुद्धि-प्रशिक्षण।

1. हृदय-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का प्रथम आयाम है—हृदय-परिवर्तन। हृदय का साधारणतया अर्थ हार्ट (Heart) किया जाता है। यहां हृदय-परिवर्तन का अर्थ है—भाव-परिवर्तन। आयुर्वेद के अनुसार हृदय दो है—एक फुफ्फुस के नीचे और दूसरा मस्तिष्क में। हमारे भावों का उद्गम स्थल मस्तिष्क का एक भाग लिम्बिक संस्थान है, अतः हृदय-परिवर्तन को मस्तिष्कीय प्रशिक्षण भी कहा जा सकता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार हृदय-परिवर्तन का तात्पर्य निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधायक भावों को जगाने से है। राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि निषेधात्मक भाव हैं। मैत्री, करुणा, दया, प्रेम आदि विधेयात्मक भाव हैं। निषेधात्मक भाव हिंसा को जन्म देते हैं। सामान्यतया यह समझा जाता है कि आदमी परिस्थितिवश हिंसा

करता है। पर वास्तव में परिस्थिति ही हिंसा का कारण नहीं है। बहुत बार परिस्थिति होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक नहीं बनता और बहुत बार परिस्थिति नहीं होने पर भी व्यक्ति उत्तेजित-हिंसक बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति हिंसा का मूल कारण नहीं है, वह निमित्त कारण बन सकती है। मूल कारण है मनुष्य के निषेधात्मक भाव। इन्हें मनुष्य की मौलिक मनोवृत्तियाँ (Instinct) कहा जा सकता है। इन वृत्तियों (भावों) का परिष्कार ही हृदय परिवर्तन है।

भावनात्मक परिवर्तन में अनुप्रेक्षा के प्रयोगों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अनुप्रेक्षा में मस्तिष्क और पूरे शरीर को शिथिल कर सुझाव दिये जाते हैं, साथ-साथ रंगों का ध्यान भी किया जाता है। ध्वनि और रंग—ये दोनों अवचेतन मन को प्रभावित करते हैं। इनसे पुराने संस्कारों, अर्जित आदतों एवं निषेधात्मक भावों का नाश होता है। नए संस्कारों, नई आदतों और शुभ भावों का निर्माण होता है।

निषेधात्मक भावों का एक मुख्य कारण आहार भी है। आज व्यक्ति के आहार में वे पदार्थ अधिक हैं जो भावात्मक असंतुलन पैदा करते हैं। पहले कहा जाता था जैसा अन्न, वैसा मन। आज कहा जाता है जैसा आहार, वैसा न्यूरोट्रान्समीटर। जैसा न्यूरोट्रान्समीटर वैसा व्यवहार। हम जो भोजन करते हैं, उससे शरीर में अनेक प्रकार के रसायन बनते हैं, मस्तिष्क में न्यूरोट्रान्समीटर बनते हैं, जो तन्त्रिका तन्त्र के संप्रेषक होते हैं। इनके द्वारा मस्तिष्क शरीर का संचालन करता है। भोजन के द्वारा अनेक विषैले तत्त्व भी शरीर में बनते हैं अतः किस प्रकार के भोजन से विषैले तत्त्व अधिक बनते हैं, इसका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। जिस भोजन से विष अधिक बनता है, वह भावों को भी दूषित बनाता है। अतः भाव-परिवर्तन के लिए हिताहार और मिताहार का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

2. दृष्टिकोण-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का दूसरा आयाम है—दृष्टिकोण का परिवर्तन। गलत दृष्टिकोण के कारण मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह पनपते हैं। मिथ्या धारणाएँ, निरपेक्ष चिन्तन और एकांगी आग्रह ही हिंसा के मुख्य कारण बनते हैं।

आज मनुष्य के भीतर अनेक मिथ्या धारणाएँ घर कर गई हैं। 'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्' उपनिषद् के इस वाक्य के आधार पर यह मान लिया गया कि मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। परिणाम यह हुआ कि उसने यह मान लिया कि सारी सृष्टि उसके उपभोग के लिए है। वह भोक्ता है। इस मिथ्या दृष्टिकोण के कारण उसने आवश्यकता से अधिक प्रकृति का दोहन किया। प्रसाधन के लिए जीवित प्राणियों के अवयवों और चमड़े का उपयोग किया। पर्यावरण को प्रदूषित किया।

मानवीय संबंधों में आज जो कटुता दिखलाई दे रही है, उसका हेतु भी व्यक्ति का निरपेक्ष दृष्टिकोण है। निरपेक्ष चिन्तन का स्वरूप है—मैंने पीया, मेरे बैल ने पीया, अब चाहे कुआं ढह पड़े। लेकिन जहां सापेक्ष दृष्टिकोण होता है, वहां व्यक्ति सोचता है—मैं भूखा नहीं हूँ, पर यदि मेरा पड़ोसी भूखा है तो उसका परिणाम मेरे लिए अच्छा नहीं होगा। भूखा व्यक्ति चोरी करेगा, अपराध करेगा और मुझ पर भी आक्रमण करेगा अतः मुझे उसके प्रति निरपेक्ष नहीं बनना चाहिए।

जहाँ दृष्टिकोण मिथ्या होता है, वहाँ अपनी बात को सत्य मानने का आग्रह होता है और आग्रहयुक्त मनोवृत्ति साम्प्रदायिक उत्तेजना के लिए उत्तरदायी है।

सम्यक् दृष्टिकोण के प्रशिक्षण का उपाय है—अनेकान्त का प्रशिक्षण। अनेकान्त का प्रशिक्षण व्यक्ति को मिथ्या धारणा, निरपेक्ष चिन्तन और आग्रह से मुक्त करता है। परिवर्तन केवल जानने से नहीं

होता। इसके लिए दीर्घकालिक अभ्यास अपेक्षित है। सम्यक् दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए निम्न निर्दिष्ट अनेकान्त के सिद्धान्त और प्रायोगिक अभ्यास-अनुप्रेक्षाओं का प्रशिक्षण आवश्यक है—

सिद्धान्त	प्रयोग
1. सप्रतिपक्ष	सामंजस्य की अनुप्रेक्षा
2. सह-अस्तित्व	सह-अस्तित्व की अनुप्रेक्षा
3. स्वतन्त्रता	स्वतन्त्रता की अनुप्रेक्षा
4. सापेक्षता	सापेक्षता की अनुप्रेक्षा
5. समन्वय	समन्वय की अनुप्रेक्षा।

3. जीवनशैली-परिवर्तन

अहिंसा-प्रशिक्षण का तीसरा आयाम है—जीवनशैली का परिवर्तन। आज व्यक्ति अहिंसक बनना चाहता है किन्तु जीवनशैली को बदलना नहीं चाहता। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है परिग्रह का सीमा करना और परिग्रह के सीमा के लिए आवश्यक है भोगों पर नियंत्रण करना। अनियंत्रित भोग हिंसा को बढ़ावा देते हैं।

जीवनशैली को बदलने का एक महत्वपूर्ण सूत्र है—सुविधावादी जीवनशैली में परिवर्तन। सुविधावादी जीवनशैली प्रदूषण पैदा कर रही है। आज इस वैज्ञानिक युग में समाज सुविधा नहीं छोड़ सकता किन्तु वह असीम न बने—यह विवेक आवश्यक है। अहिंसक बनने के लिए आवश्यक है जीवनशैली में संयम को प्रतिष्ठा मिले, सुविधा को नहीं। वास्तव में संयम ही जीवन है और संयम से ही हिंसा का समाधान है।

अहिंसा के विकास के लिए आवश्यक है जीवनशैली श्रम प्रधान और व्यसनों से मुक्त हो। श्रम किये बिना पैसा प्राप्त करने की मनोवृत्ति हिंसा और अपराध को बढ़ाती है। मादक द्रव्यों का सेवन भी अपराध चेतना को बढ़ाने में निमित्त बनती है।

इस प्रकार जीवनशैली के परिवर्तन के लिए संयम, श्रम, स्वावलम्बन एवं व्यसनमुक्त जीवन का सैद्धान्तिक प्रशिक्षण अपेक्षित है। अणुव्रत की आचार-संहिता का जीवनशैली के परिवर्तन में बहुत बड़ा योगदान है। इसके साथ-साथ निम्नलिखित अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास भी जीवनशैली के परिवर्तन के लिए अपेक्षित है—

1. अहिंसा की अनुप्रेक्षा,
2. सत्य, अचौर्य की अनुप्रेक्षा,
3. ब्रह्मचर्य की अनुप्रेक्षा,
4. इच्छापरिमाण की अनुप्रेक्षा,
5. स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा,
6. व्यसनमुक्ति के प्रयोग।

4. आजीविका-शुद्धि और आजीविका प्रशिक्षण

अहिंसा-प्रशिक्षण का चौथा आयाम है—आजीविका-शुद्धि और आजीविका-प्रशिक्षण। मनुष्य के पास शरीर है, परिवार है अतः उसे उसका पोषण और संरक्षण भी करना पड़ता है। इसलिए उसके पास कोई-न-कोई आजीविका हो यह अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु हिंसा प्रधान आजीविका का निषेध होना चाहिए। ऐसे व्यापार, जिसमें महाहिंसा होती है, उनका वर्जन करना चाहिए, जैसे—जंगल कटवाना, मांस का विक्रय करना आदि। इस दृष्टि से सम्यक् आजीविका का प्रशिक्षण अहिंसा का महत्त्वपूर्ण पहलू बन जाता है। आजीविका प्राप्त करके भी उसे अनैतिक नहीं बनने देना भी अहिंसा का ही एक प्रयोग है। कुछ लोग अपनी आवश्यकता से इतना अधिक खर्च कर लेते हैं कि बहुत सारे गरीब लोगों को रोटी मिलना भी मुश्किल हो जाता है। इसलिए अहिंसा-प्रशिक्षण में आजीविका का सम्यक् प्रयोग जहाँ व्यक्ति को परिग्रह से मुक्त करता है, वहीं अन्य लोगों की आजीविका की रक्षा भी करता है।

इस प्रकार अहिंसा-प्रशिक्षण के ये चार महत्वपूर्ण आयाम हैं। हृदय-परिवर्तन से दृष्टिकोण का परिवर्तन होता है। दृष्टिकोण के परिवर्तन होने से जीवनशैली में परिवर्तन होता है। जीवनशैली में संयम की प्रतिष्ठा होने से आजीविका की शुद्धि होती है। अहिंसा में विश्वास रखने वाले सभी लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वे स्वयं इनका प्रशिक्षण लें और दूसरों को भी प्रशिक्षण लेने की प्रेरणा प्रदान करें। इस प्रशिक्षण से निश्चित रूप से अहिंसा का वर्चस्व स्थापित हो सकता है।

हिंसा के जितने कारण हैं, प्रशिक्षण और प्रयोगों के द्वारा उन कारणों को समाप्त करके अहिंसा का विकास किया जा सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने हिंसा के कारणों का निवारण करने के लिए उपर्युक्त अहिंसा-प्रशिक्षण के चार सूत्रों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। आवश्यकता है इनको समझकर इनका अभ्यास करने की।

4. अणुव्रत आन्दोलन

भगवान् महावीर ने दो प्रकार के धर्म का प्रतिपादन किया—गृहस्थ धर्म और मुनि धर्म। उन्होंने मुनि के लिए अहिंसा, सत्य आदि पांच महाव्रतों के पालन का विधान किया तथा गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य आदि बारह अणुव्रतों का विधान किया। ये अणुव्रत तत्कालीन समाज-व्यवस्था में व्याप्त विकारों को दूर करने में सक्षम थे। युग-परिवर्तन के साथ-साथ मूल्य भी बदलते गये। समस्याओं ने भी नवीन रूप धारण कर लिया। उनके निराकरण के लिए प्राचीन अणुव्रतों का विश्लेषण करना आवश्यक था। भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उसी अणुव्रत धर्म को आचार्य तुलसी ने युगीन संदर्भों में प्रस्तुत कर अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन किया।

अणुव्रत आन्दोलन : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज से लगभग पांच दशक पूर्व तक, भारतवर्ष राजनैतिक दासता के घेरे में बंदी था। कुछ चिन्तनशील महापुरुषों ने देश को दासता की गिरफ्त से मुक्त कराने का संकल्प किया और उनके अथक प्रयासों के बाद भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भारतवासियों में जो एकता थी, आजादी के बाद वह टूट गई। परिणामस्वरूप जातिवाद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अमीरी-गरीबी, महंगाई आदि मौलिक समस्याओं के साथ-साथ अनुशासनहीनता, पद की लालसा, महत्त्वाकांक्षा, प्रान्तीयता और भाषायी विवाद जैसी समस्याओं से जनता का चरित्र विकृत और मानस उत्पीड़ित हो उठा। नैतिकता का ह्रास होने लगा। परिणाम स्वरूप एक नैतिक आन्दोलन की आवश्यकता महसूस की गई।

अणुव्रत आंदोलन का सूत्रपात

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने संयुक्त रूप से शासन संभाला। हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। इन दंगों में लाखों आदमी मौत के घाट उतरे। जातीयता का नग्न रूप सामने आया। स्त्रियों और बच्चों के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार किया गया। ऐसी स्थिति उत्पन्न की गई कि आखिर हिन्दुस्तान विभक्त हो गया। चरित्र-पतन और अनुशासनहीनता से सभी का धैर्य विचलित हो रहा था। ऐसी विषम परिस्थितियों में 'अणुव्रत आंदोलन' सामने आया। आचार्य तुलसी ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस पर 'असली आजादी अपनाओ' का शंखनाद किया। असली आजादी का अर्थ है—नैतिक विकास। उसका प्रायोगिक रूप है—अणुव्रत आन्दोलन। 2 मार्च, 1949 को सदारशहर में आचार्य तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन किया। अणुव्रत की आचार-संहिता निर्धारित की और यह आह्वान किया कि यदि अणुव्रत की आचार-संहिता का पालन करने वाले कम से कम पच्चीस व्यक्ति मुझे मिल जाएँ तो मेरा विश्वास

है कि इससे नैतिकता का नया आयाम खुलेगा। प्रथम आह्वान में ही इकहत्तर (71) व्यक्ति अणुव्रती बने। प्रथम बार अणुव्रती बनने वालों के नाम उन्होंने स्वयं अपने हाथ से लिखे।

अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है

प्रत्येक धर्म के साथ सम्प्रदाय जुड़ा हुआ है। अणुव्रत का किसी सम्प्रदाय के साथ संबंध नहीं है। यह एक ऐसे धर्म की परिकल्पना है, जो धर्म हो, किन्तु सम्प्रदाय से जुड़ा न हो। अणुव्रत का संबंध नैतिकता से है। नैतिकता साम्प्रदायिक नहीं है। वह सबके लिए समान रूप से समादरणीय है।

अणुव्रत असाम्प्रदायिक धर्म है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, अनेक सम्प्रदाय के लोगों द्वारा अणुव्रत की स्वीकृति। इस आन्दोलन में हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी सम्मिलित हुए और उन्हें यह प्रतीत हुआ कि इसमें हमारे सम्प्रदाय अथवा धर्म से कोई विरुद्ध बात नहीं है। एक मुसलमान भाई ने आचार्य तुलसी से पूछा—मैं अणुव्रत की आचार-संहिता स्वीकार करूँ तो क्या नमाज पढ़ सकता हूँ। आचार्य तुलसी ने कहा—उपासना में आप स्वतंत्र हैं, उससे हमारा कोई लेना-देना नहीं है। आपकी प्रतिबद्धता नैतिकता की आचार-संहिता के साथ है, किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं है। अपने-अपने देव-गुरु-धर्म के प्रति आस्था रखते हुए व्यक्ति अणुव्रती बन सकता है। इसमें जाति, धर्म, रंग, स्त्री, पुरुष आदि का कोई विचार नहीं किया जाता है। जो भी एक इच्छा इन्सान और मानव बनना चाहता है, वह इसे स्वीकार कर सकता है। लाखों लोगों ने इसे स्वीकार किया।

अणुव्रत : नैतिकता का आन्दोलन है

धर्म और नैतिकता का परस्पर संबंध है, किन्तु लगता है आज नैतिकता विहीन धर्म को मान्यता मिल गई है। इसीलिए धार्मिक व्यक्ति

भी अपने व्यापार या व्यवसाय में अप्रामाणिकता बरतता है। अणुव्रत ने इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयास किया और एक नया स्वर दिया कि नैतिक बने बिना व्यक्ति धार्मिक नहीं बन सकता है। अणुव्रत नैतिकता का आन्दोलन है।

अणुव्रत के आधार पर नैतिकता का मानदण्ड है—संयम। जहाँ-जहाँ संयम है, वहाँ-वहाँ नैतिकता है। संयम के अभाव में नैतिकता नहीं हो सकती। इसीलिए इसका मूल मंत्र है—‘संयमः खलु जीवनम्’ संयम ही जीवन है। संयम के विकास के लिए आवश्यक है—मैत्री का विकास, इच्छाओं का सीमाकरण, भोगोपभोग का संयम, प्रामाणिकता और करुणा का विकास करना।

5. अणुव्रत की आचार-संहिता

अणुव्रत : अर्थ एवं परिभाषा

शाब्दिक दृष्टि से अणु का अर्थ है ‘छोटा’ और व्रत का अर्थ है ‘नियम’। अणुव्रत छोटे-छोटे नियमों की एक आचार-संहिता है। भावात्मक दृष्टि से अणुव्रत का अर्थ है—

- ❖ चरित्र निर्माण की प्रक्रिया।
- ❖ सर्वसम्मत मानव-जीवन की आचार-संहिता।
- ❖ सम्प्रदाय-विहीन धर्म का प्रयोग।

‘अणुव्रत’ में सम्प्रदाय गौण है, धर्म तथा चरित्र मुख्य है। केवल अगले जीवन की चिन्ता गौण है, प्रायोगिक जीवन प्रधान है। साम्प्रदायिक मतवाद का आग्रह गौण है, सब धर्म-सम्प्रदायों के साथ सद्भाव का प्रयत्न मुख्य है।

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार—अणुव्रत चरित्र विकास के लिए किये जाने वाले छोटे-छोटे संकल्प हैं।

अणुव्रत का लक्ष्य

अणुव्रत आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य है—जीवन-मूल्यांकन के दृष्टिकोण और उसकी उच्चता के मापदण्ड को बदलना। चरित्र का न्यूनतम विकास सबमें हो क्योंकि चारित्रिक उच्चता के बिना मानव-समाज की सभ्यता और संस्कृति उच्च नहीं बन सकती। आचार्य तुलसी के शब्दों में—

- ❖ अणुव्रत-आन्दोलन का स्वरूप है—स्वनिष्ठा।
- ❖ अणुव्रत-आन्दोलन का ध्येय है—जीवन-शुद्धि।
- ❖ अणुव्रत-आन्दोलन का आदर्श है—चरित्र का उत्कर्ष।
- ❖ चरित्र-अपकर्ष के हेतु हैं—बहुभोग, बहु-परिग्रह और बहु-हिंसा।
- ❖ चरित्र-उत्कर्ष के हेतु हैं—भोग-अल्पता, परिग्रह-अल्पता और हिंसा-अल्पता।
- ❖ आदर्श प्राप्ति के साधन हैं—अणुव्रत।

अणुव्रत का लक्ष्य है—

- ❖ जाति, रंग, सम्प्रदाय, देश और भाषा का भेदभाव न रखते हुए मनुष्य मात्र को आत्म-संयम की प्रेरणा देना।
- ❖ मैत्री, एकता, शान्ति, आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना।
- ❖ अहिंसक समाज की संरचना करना।

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व

आंदोलन के प्रारम्भ में नियमों की संख्या तेरह थी, जो बढ़कर छियासी हो गई। सन् 1958 में अणुव्रतों की संख्या में फिर परिवर्तन किया गया। इस अवसर पर व्रतों की भाषा का परिष्कार किया गया।

अणुव्रतियों के लिए तीन श्रेणियाँ बनाई गई—प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियमों का विधान किया गया। अणुव्रती के लिए अणुव्रतों के साथ उसके शील और चर्या का पालन भी करना होता है। विशेष संयम का जीवन जीने वाले विशिष्ट अणुव्रती कहलाए।

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व, अणुव्रत की आचार-संहिता तथा वर्गीय अणुव्रत निम्नलिखित हैं—

अणुव्रत के निदेशक तत्त्व—

1. दूसरों के अस्तित्व के प्रति संवेदनशीलता।
2. मानवीय एकता।
3. सह-अस्तित्व की भावना।
4. साम्प्रदायिक सद्भावना।
5. अहिंसात्मक प्रतिरोध।
6. व्यक्तिगत संग्रह और भोगोपभोग की सीमा।
7. व्यवहार में प्रामाणिकता।
8. साधन-शुद्धि में आस्था।
9. अभय, तटस्थता और सत्यनिष्ठा।

अणुव्रत : आचार संहिता

1. मैं किसी भी निरपराध प्राणी का संकल्पपूर्वक वध नहीं करूंगा।
 - ❖ आत्म-हत्या नहीं करूंगा।
 - ❖ भ्रूण-हत्या नहीं करूंगा।
2. मैं आक्रमण नहीं करूंगा।
 - ❖ आक्रामक नीति का समर्थन नहीं करूंगा।
 - ❖ विश्व-शांति तथा निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयत्न करूंगा।

3. मैं हिंसात्मक एवं तोड़-फोड़ मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
4. मैं मानवीय एकता में विश्वास करूंगा।
 - ❖ जाति, रंग आदि के आधार पर किसी को ऊँच-नीच नहीं मानूंगा।
 - ❖ अस्पृश्य नहीं मानूंगा।
5. मैं धार्मिक सहिष्णुता रखूंगा।
 - ❖ साम्प्रदायिक उत्तेजना नहीं फैलाऊंगा।
6. मैं व्यवसाय और व्यवहार में प्रामाणिक रहूंगा।
 - ❖ अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि नहीं पहुंचाऊंगा।
 - ❖ छलनापूर्ण व्यवहार नहीं करूंगा।
7. मैं ब्रह्मचर्य की साधना और संग्रह की सीमा का निर्धारण करूंगा।
8. मैं चुनाव के संबंध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा।
9. मैं सामाजिक कुरूपियों को प्रश्रय नहीं दूंगा।
10. मैं व्यसनमुक्त जीवन जीऊंगा।
 - ❖ मादक तथा नशीले पदार्थ—शराब, गांजा, चरस, हेरोइन, भांग, तम्बाकू आदि का सेवन नहीं करूंगा।
11. मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूंगा।
 - ❖ हरे-भरे वृक्ष नहीं काटूंगा।
 - ❖ पानी का अपव्यय नहीं करूंगा।

(अणुव्रती के लिए संबंधित वर्गीय अणुव्रतों का पालन अनिवार्य है।)

1. विद्यार्थी अणुव्रत

- ❖ मैं परीक्षा में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।

- ❖ मैं हिंसात्मक एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।
- ❖ मैं अश्लील शब्दों का प्रयोग नहीं करूंगा, अश्लील साहित्य नहीं पढ़ूंगा तथा अश्लील चलचित्र नहीं देखूंगा।
- ❖ मैं मादक तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
- ❖ मैं चुनाव के सम्बन्ध में अनैतिक आचरण नहीं करूंगा और न भाग लूंगा।
- ❖ मैं दहेज से अनुबन्धित एवं प्रदर्शन से युक्त विवाह नहीं करूंगा।
- ❖ मैं बड़े वृक्ष नहीं काटूंगा और प्रदूषण नहीं फैलाऊंगा।

2. शिक्षक अणुव्रत

- ❖ मैं विद्यार्थी के बौद्धिक-विकास के साथ चरित्र-विकास में भी सहयोगी बनूंगा।
- ❖ मैं विद्यार्थी को उत्तीर्ण करने में अवैध उपायों का सहारा नहीं लूंगा।
- ❖ मैं अपने लिए विद्यार्थियों में दलगत राजनीति को प्रश्रय नहीं दूंगा। न इसके लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करूंगा।
- ❖ मैं मादक और नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।
- ❖ मैं अणुव्रत-प्रसार में अपना योग दूंगा।

3. अधिकारी/कर्मचारी अणुव्रत

1. मैं रिश्वत नहीं लूंगा।
2. मैं अपने प्राप्त अधिकारों का अनुचित प्रयोग नहीं करूंगा।

3. मैं अपने कर्तव्य-प्रालन में जान-बूझकर विलम्ब या अन्याय नहीं करूंगा।

4. मैं मादक और नशीले पदार्थों को सेवन नहीं करूंगा।

4. श्रमिक अणुव्रत

1. मैं अपने कार्य में प्रामाणिकता रखूंगा।

2. मैं हिंसात्मक उपद्रवों एवं तोड़फोड़-मूलक प्रवृत्तियों में भाग नहीं लूंगा।

3. मैं मद्यपान एवं धूम्रपान नहीं करूंगा तथा नशीले पदार्थों का सेवन नहीं करूंगा।

4. मैं जुआ नहीं खेलूंगा।

6. अणुव्रत : स्वस्थ समाज संरचना का आधार

मनुष्य अकेला जन्म लेता है किन्तु समाज में रहना उसका स्वभाव है। इसीलिए अरस्तू ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा है। समाज एक ऐसी इकाई है, जहाँ सभी व्यक्ति माला के मनकों की तरह एक-दूसरे से अनुबंधित रहते हैं, किन्तु जहाँ अनुबंधों में दरार पैदा होती है, वहाँ स्वस्थ समाज की कल्पना साकार नहीं होती। आचार्य तुलसी ने 'अणुव्रत' के माध्यम से स्वस्थ समाज संरचना की बात कही।

'अणुव्रत' स्वस्थ समाज संरचना का आधार है। उनके अनुसार समाज की स्वस्थता के लिए मानवीय एकता की भावना अति आवश्यक है। मानवीय एकता के चार आधार सूत्र हैं—नैतिकनिष्ठा, प्रेम, सहानुभूति और अनाग्रही दृष्टिकोण।

नैतिकनिष्ठा के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी के हितों का विघटन करता है। उसका शोषण करता है।

प्रेम के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी से घृणा करता है। उसे हीन मानता है, तिरस्कृत करता है।

सहानुभूति के अभाव में एक आदमी दूसरे आदमी की कठिनाइयों की उपेक्षा करता है। अपने ही सुख-दुःख की समस्या को प्राथमिकता देता है।

अनाग्रही दृष्टिकोण के अभाव में मनुष्य वैचारिक स्वतन्त्रता का हनन करता है। मतभेद के आधार पर एक-दूसरे को कुचलने का प्रयत्न करता है। परिणामस्वरूप समाज रुग्ण बनता है। आचार्य तुलसी ने स्वस्थ समाज संरचना के कुछ सूत्र प्रस्तुत किये, जो निम्नलिखित हैं—

1. हिंसा समस्या का समाधान नहीं, इस आस्था का निर्माण।
2. मानवीय एकता में विश्वास।
3. दूसरों के श्रम का अशोषण।
4. मानवीय सम्बन्धों का विकास।
5. सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण।
6. वैचारिक-सहिष्णुता।
7. जीवन-व्यवहार में करुणा का विकास।
8. आहार-शुद्धि और व्यसनमुक्ति।
9. सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार।

1. हिंसा समाधान नहीं

स्वस्थ समाज संरचना के लिए पहली आवश्यकता है—अहिंसक चेतना का जागरण। समाज में जीने वाले एक गृहस्थ के लिए आवश्यक हिंसा और सूक्ष्म हिंसा से बच पाना असंभव है। वह इससे मुक्त नहीं हो सकता। जीवन को चलाने के लिए उसे हिंसा का सहारा

लेना पड़ता है। किन्तु जब व्यक्ति अपनी हर समस्या का समाधान हिंसा से करने का प्रयास करता है तो समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार और आतंकवाद जैसी समस्याएँ बढ़ती हैं। परिणामस्वरूप समाज स्वस्थ नहीं अपितु रुग्ण बनता है। स्वस्थ समाज संरचना के लिए आवश्यक है इस आस्था का निर्माण करना कि हिंसा समस्या का स्थायी समाधान नहीं है। स्थायी समाधान है—अहिंसा। सामाजिक आदमी पूर्ण अहिंसक नहीं बन सकता पर उनकी आस्था अहिंसा में हो यह आवश्यक है। समाज में जितना-जितना अहिंसा का विकास होगा, मैत्री-प्रेम, भाईचारे की भावना का भी उतना ही विकास होगा और स्वस्थ समाज की परिकल्पना साकार होगी।

2. मानवीय एकता में विश्वास

स्वस्थ समाज संरचना का दूसरा सूत्र है—मानवीय एकता में विश्वास। भूगोल और इतिहास की दृष्टि से देखें तो आज मानव-समाज कई भागों में बंटा हुआ है। एक ही धरती पर कई राष्ट्रों की सीमाएँ खड़ी हैं। भविष्य में भी इस भेद को मिटाया जा सके, संभव नहीं लगता। फिर भी मानवीय एकता में यदि विश्वास किया जाए तो भावात्मक दूरियों को समाप्त किया जा सकता है। वर्ण, जाति, रंग के आधार पर घृणा और अहंकार का जो भाव विकसित हो रहा है, उसे दूर किया जा सकता है। अतः मानवीय एकता में विश्वास स्वस्थ समाज संरचना का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

3. दूसरों के श्रम का अशोषण

जिस समाज में दूसरों के श्रम का सम्मान नहीं होता, मूल्यांकन नहीं होता अपितु शोषण होता है, वह समाज स्वस्थ नहीं रह सकता। समाज-रचना के बारे में एक मान्यता मात्स्य न्याय की रही है। उसके अनुसार बड़ी मछली हमेशा छोटी मछली को निगलकर ही अपना

अस्तित्व कायम रख सकती है। उसी प्रकार बड़े आदमी छोटों या अधीनस्थ कर्मचारियों का शोषण कर ही अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं। किन्तु स्वस्थ समाज संरचना के लिए यह उचित नहीं है। आदमी का अस्तित्व तो परस्परोग्रह की भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हो सकता है। एक मनुष्य का हित दूसरे के विरोध में नहीं अपितु सहयोग में ही निहित है। भले ही कुछ लोग अपने बौद्धिक सामर्थ्य से कुछ गरीब लोगों के श्रम का शोषण कर एक बार बड़े बन जाएँ, पर यह व्यवस्था बहुत लम्बी नहीं चल सकती और स्वस्थ समाज का निर्माण भी नहीं कर सकती। दूसरी ओर यदि आदमी दूसरों के श्रम का शोषण न कर उसका सम्मान करे तो न केवल वह स्वयं ही शांति का जीवन जीता है अपितु दूसरों के लिए भी शांत जीवन की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है। समाज में स्वस्थ वातावरण का निर्माण करता है।

4. मानवीय संबंधों का विकास

स्वस्थ समाज संरचना का चौथा सूत्र है—मानवीय संबंधों का विकास। आज ऐसा लगता है कि मानवीय संबंधों में बहुत नीरसता और कटुता आ गई है। अधिकारी और कर्मचारी, मालिक और नौकर के पारस्परिक संबंधों में समानता की अनुभूति नहीं है, जिसका परिणाम है आए दिन हड़ताल, तालाबन्दी, अप्रामाणिक व्यवहार। आज भाई-भाई के बीच, बाप-बेटे के बीच भी मानवीय संबंधों का ह्रास हो रहा है। परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, खून के रिश्तों में दरार पड़ रही है। मानवीय संबंधों का विकास जहाँ अनेक समस्याओं का समाधान है, वही स्वस्थ समाज संरचना का भी आधार है।

5. सत्ता एवं अर्थ का विकेन्द्रीकरण

सत्ता और अर्थ समाज-रचना के दो प्रमुख संघटक हैं। ये दोनों

जितने विकेन्द्रित होते हैं, उतनी ही समाज व्यवस्था अच्छी होती है और ये दोनों जितने केन्द्रित होते हैं, उतनी ही अव्यवस्था फैलती है। एक समय था जब साम्राज्यवाद को प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु अपने केन्द्रित स्वरूप के कारण आज वह अप्रतिष्ठित और अप्रासंगिक बन गया है। उसका स्थान आज लोकतंत्र ने ले लिया है पर लोकतंत्र की सफलता भी इसी पर निर्भर है कि वह सत्ता और अर्थ को ज्यादा से ज्यादा विकेन्द्रित करे। जब भी ये दोनों सीमित हाथों में केन्द्रित होते हैं तो संघर्ष बढ़ता है अतः आवश्यक है कि इन दोनों को इस तरह विकेन्द्रित कर दिया जाए कि न तो सत्ता शीर्ष पर कुछ लोगों का अधिकार हो और न ही पूंजी कुछ लोगों के हाथों में सिमटकर रहे। इस दिशा में किया गया प्रस्थान समाज को स्वस्थ बनाने की दिशा में किया गया प्रस्थान होगा।

6. वैचारिक सहिष्णुता

जिस समाज में अपने विचारों को सही मानने का आग्रह होता है तथा दूसरों के विचारों को सहन करने की मनोवृत्ति नहीं होती, वह समाज विकास की दिशा में चरणन्यास नहीं करता। समाज में सबके विचार समान हो जाएँ यह भी संभव नहीं हो सकता। अतः सामाजिक स्वस्थता के लिए वैचारिक सहिष्णुता एक महत्वपूर्ण घटक है।

7. करुणा का विकास

जिस समाज में करुणा का विकास नहीं होता, वह स्वस्थ समाज नहीं होता। करुणा का विकास संवेदनशीलता से होता है। जिस व्यक्ति में संवेदना जितनी ज्यादा होती है, उसमें करुणा का विकास भी उतना ही अधिक होगा। करुणावान व्यक्ति न केवल मनुष्य के प्रति अपितु संसार के सभी प्राणियों के प्रति संवेदनशील बनता है।

8. आहारशुद्धि और व्यसनमुक्ति

आहार मनुष्य के व्यक्तित्व निर्माण का एक महत्वपूर्ण घटक है। वह न केवल शरीर का ही पोषक है अपितु वृत्तियों के निर्माण में भी उसकी अहं भूमिका है। जैसा आहार होता है, वैसा ही विचार और व्यवहार होता है अतः स्वस्थ समाज संरचना में आहार-शुद्धि अति आवश्यक है।

‘नशा’ जीवन का नाश करता है। नशे से न केवल आदमी का स्वास्थ्य बिगड़ता है अपितु उसकी चेतना भी विकृत बनती है। नशे में व्यक्ति को करणीय-अकरणीय का विवेक नहीं रहता। यह अर्थ-व्यवस्था को भी प्रभावित करता है। समाज में बढ़ते हुए अपराधों का एक बहुत बड़ा कारण है—व्यसन। अतः व्यसन-मुक्ति से ही स्वस्थ समाज की कल्पना साकार हो सकती है।

9. सामाजिक रूढ़ियों का परिष्कार

स्वस्थ समाज वह होता है, जहाँ अंधविश्वासों तथा अंधरूढ़ियों को आदर नहीं मिलता। जब अंधविश्वास परम्परा बन जाते हैं तब अंधरूढ़ियों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। स्वस्थ समाज व्यवस्था सचेतन समाज व्यवस्था है। वहाँ किसी बात का मूल्य परम्परा नहीं अपितु उसकी गुणवत्ता से होता है अतः रूढ़ियों से मुक्त समाज-व्यवस्था ही स्वस्थ समाज-व्यवस्था हो सकती है।

7. अणुव्रत का कार्यक्षेत्र

‘अणुव्रत आन्दोलन’ स्वस्थ समाज की संरचना का आन्दोलन है। समाज में व्याप्त बुराइयों के प्रतिकार हेतु जन-जागरण इसका मुख्य उद्देश्य है। अणुव्रत के द्वारा मुख्य रूप से निम्नलिखित क्षेत्रों में कार्य किया जाता है, जिसका विवेचन जीवन विज्ञान की रूपरेखा पुस्तक में इस प्रकार किया गया है—

1. शिक्षा और अणुव्रत

शिक्षा समस्त प्रगति का मूल आधार है पर इस क्षेत्र में अनेक बुराइयाँ तेजी से बढ़ रही हैं। छात्रों में उच्छृंखलता, उद्दण्डता, तोड़-फोड़, नशा, परीक्षा में अवैध उपायों का प्रयोग तेजी से बढ़ता जा रहा है। शिक्षकों में भी दलगत राजनीति और बौद्धिक आस्था का प्रभाव है। अभिभावकों की व्यस्तता एवं उदासीनता भी बच्चों के चारित्रिक तथा नैतिक ह्रास को बढ़ा रही है।

‘अणुव्रत आंदोलन’ द्वारा विद्यार्थी, शिक्षक और अभिभावक—तीनों के नैतिक उत्थान के लिए अभियान चलाया जाता है। विद्यार्थियों के लिए विद्यार्थी अणुव्रत हैं। प्रतिवर्ष अणुव्रत परीक्षाएँ भी आयोजित की जाती हैं, जिसमें भाग लेकर विद्यार्थी अणुव्रत के चिन्तन और दर्शन से परिचित होते हैं। शिक्षकों के नैतिक जागरण के लिए ‘शिक्षक अणुव्रत’ का प्रावधान है। अब तक लाखों शिक्षक अणुव्रती बने हैं। इस कार्य को और अधिक गति देने हेतु ‘अणुव्रत शिक्षक संसद’ और ‘अणुव्रत छात्र-संसद’ का गठन किया गया है।

2. व्यापारिक प्रतिष्ठान और अणुव्रत

समाज के आर्थिक ढांचे में शोषण, मिलावट, कम माप-तौल, जमाखोरी आदि अनेक बुराइयाँ हैं। इन्हें समाप्त करने की दृष्टि से भी इस अभियान द्वारा अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। समय-समय पर मिलावट विरोधी अभियान चलाये जाते हैं। व्यापारियों की सभा का आयोजन कर उनमें नैतिक चेतना को जगाया जाता है। उन्हें ‘व्यापारी अणुव्रत’ से परिचित करवाया जाता है। अनेक व्यक्ति स्वेच्छा से ‘व्यापारी अणुव्रतों’ को स्वीकार कर स्वस्थ समाज की भूमिका में योगदान देते हैं।

3. राजनीति और अणुव्रत

राजनीति सम्पूर्ण देश की व्यवस्था का संचालन करती है। अणुव्रत आन्दोलन के अन्तर्गत राजनीति में नैतिक चेतना और राष्ट्रीय चेतना जागरण के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं। चुनाव के समय 'प्रत्याशी अणुव्रत' और 'मतदाता अणुव्रत' से जनता को परिचित कराया जाता है। लोकतंत्र के सच्चे स्वरूप के प्रति जागरूक किया जाता है।

4. एकता और अणुव्रत

दुनियाँ विविधताओं से भरी हुई है। भाषा, जाति, सम्प्रदाय, रंग और लिंग की विविधता के बीच अणुव्रत मानवीय एकता की आवाज को बुलन्द करता है। विभेद हमारी उपयोगिता है। इस उपयोगिता को वास्तविकता मानना समस्या पैदा करता है। इन सभी भेदों से ऊपर उठकर अणुव्रती कार्यकर्ता एक मंच से एक साथ हिल-मिलकर नैतिक अभियान को आगे बढ़ाते हैं। मानवीय एकता की भावना को पुष्ट करते हैं।

5. धर्म और अणुव्रत

'अणुव्रत आन्दोलन' एक असाम्प्रदायिक आन्दोलन है। इसके द्वारा सर्वधर्म सद्भाव की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया जाता है। समय-समय पर सभी धर्म के लोग एक मंच पर उपस्थित होते हैं। विचारों का आदान-प्रदान करते हैं तथा सर्वधर्म सद्भाव का वातावरण बनाते हैं।

6. विश्वशांति और अणुव्रत

आज विश्वशांति का प्रश्न पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। 'अणुव्रत आन्दोलन' विश्व में अहिंसा द्वारा शान्ति स्थापित करने का एक रचनात्मक उपक्रम है। न्यूनतम मानवीय मूल्यों के प्रति

वैयक्तिक संकल्प का विकास कर विश्व को हिंसा से मुक्ति दिलाने का अनूठा प्रयोग है। इस हेतु समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया जाता है, जिसकी अनुगूँज यू.एन.ओ. तक भी हुई है।

7. पर्यावरण चेतना और अणुव्रत

असीम उपभोक्तावाद तथा सुख-सुविधावादी दृष्टिकोण ने पर्यावरण के असंतुलन को बढ़ाया है। पदार्थ सीमित हैं, उपभोक्ता अधिक हैं और इच्छाएँ असीम हैं। परिणामस्वरूप प्रकृति का अत्यधिक दोहन हो रहा है और पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। जन-जन में पर्यावरण चेतना को जगाने के लिए 'अणुव्रत आन्दोलन' ने अणुव्रतों का निर्माण किया है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति संकल्पबद्ध होता है कि मैं पर्यावरण की समस्या के प्रति जागरूक रहूँगा। हरे-भरे वृक्ष को नहीं काटूँगा। पानी का अपव्यय नहीं करूँगा।

8. समाज और अणुव्रत

समाज में समय की आवश्यकतानुसार नियम एवं रीति-रिवाज बनते हैं। कालान्तर में उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। वे रूढ़ि बन जाते हैं। ऐसी रूढ़ियाँ समाज के विकास में बाधक होती हैं। समाज में अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज-प्रथा, मृत्यु-भोज, शोक-प्रथा, पर्दा-प्रथा, व्यसन, निरक्षरता जैसे अनेक अभिशाप हैं, जो समाज को रुग्ण बना रहे हैं। अणुव्रत इसके निवारणार्थ समय-समय पर अस्पृश्यता-निवारण, रूढ़ि-मुक्ति, व्यसन-मुक्ति, दहेज-विरोधी अभियान, साक्षरता एवं महिला-जागृति जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों का संचालन करता है। इसके अतिरिक्त 'अणुव्रत परिवार' और 'अणुव्रत ग्राम' की योजना को भी साकार रूप दे रहा है। इस प्रकार अणुव्रत का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

प्रश्नावली

प्रश्न-1. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर विस्तार से लिखें—

1. जैन दर्शन के अनुसार अहिंसा के स्वरूप को स्पष्ट करें।
2. पशु-पक्षियों के प्रति की गई क्रूरता के पीछे रही हुई भावना को समझाएँ।
3. अहिंसा-प्रशिक्षण के चार आयामों का विवेचन करें।
4. अणुव्रत को परिभाषित करते हुए उसकी आचार-संहिता लिखें।
5. स्वस्थ समाज संरचना के निर्माण में अणुव्रत की भूमिका को समझाएँ।
6. अणुव्रत के कार्यक्षेत्रों का विवेचन करें।

प्रश्न-2. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 100 शब्दों में दें—

1. अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन क्यों किया गया?
2. अहिंसा का पालन क्यों करना चाहिए?
3. अहिंसा के कितने प्रकार हैं?
4. हृदय-परिवर्तन से क्या तात्पर्य है?
5. अणुव्रत नैतिकता का आन्दोलन है, कैसे?



जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय

लाडनूँ-341 306 (राज.)